प्रकाशक—

जीतमल लूणिया, मन्त्री

सस्ता-साहित्य-प्रकाशक मण्डल, अजमेर

हिन्दी प्रेमियों से अनुरोध

इस सस्ता-मंडल की पुस्तकों का विषय, उनकी पृष्ठ-संख्या और मूल्य पर जरा विचार कीजिये। कितनी उत्तम और साथ ही कितनी सस्ती हैं। मण्डल से निकली हुई पुस्तकों के नाम तथा स्थायी ग्राहक होने के नियम, पुस्तक के अंत में दिये हुए हैं, उन्हें एक बार आप अवश्य पढ़ लीजिये।

* ग्राहक नम्बर—

* यदि आप इस मंडल के ग्राहक हैं तो अपना नम्बर यहाँ लिख रखिये, ताकि आपको याद रहे। पत्र देते समय यह नंबर जरूर लिखा करें।

मुद्रक—

गणपति कृष्ण गुर्जर,

श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, काशी।

आवश्यक वक्तव्य

उपाध्यायजी की यह पुस्तक पाठकों के हाथों में ऐसे समय पहुँच रही है जब कि उसकी बहुत आवश्यकता है। यह कहना कठिन है कि इनके सभी विचारों से पाठक सोलहों आना सहमत होंगे परन्तु यह तो निर्विवाद कहा जा सकता है कि इसमें पाठकों को काफ़ी विचार-सामग्री मिलेगी।

अब्दुलरशीद ने पुलिस की तहक़ीक़ात में स्वामीजी का खून करना स्वीकार किया था। इस कारण लेखक ने और सब लोगों की तरह इस पुस्तक में उसे स्वामीजी का खूनी मान कर अपने विचारों की स्थापना की है। परन्तु कानून की परिभाषा में कोई अभियुक्त तब तक अपराधी करार नहीं दिया जा सकता जब तक कि न्यायालय उसे अपराधी करार न दे दे। ऐसी अवस्था में पाठक तब तक इस पुस्तक में अब्दुलरशीद को अपराधी नहीं, अभियुक्त समझें।

प्रकाशक

विषय-सूची

विषय | पृष्ठ

लागत का ब्योरा

कागज़	६६)
छपाई	१०२)
बाइंडिंग	१२)
चित्र	६)
लिखाई, व्यवस्था, विज्ञापन आदि खर्च	९०)
	२७६)

कुल प्रतियाँ ११००

लागत मूल्य प्रति पुस्तक ।)

स्वामीजी का बलिदान
और
हमारा कर्तव्य
अर्थात्
हिन्दू-मुस्लिम-समस्या

१—प्रास्ताविक

स्वामीजी का खून—

पू० स्वामी श्रद्धानन्दजी के खून ने सारे देश में खलबली मचा दी है। हिन्दू जोश में हैं और मुसलमान चक्कर में पड़ गये हैं। इसके परिणाम के विषय में तरह तरह के अनुमान बँध रहे हैं। हिन्दुओं और मुसलमानों पर इसका तात्कालिक असर जुदा जुदा हुआ है। हिन्दुओं का एक दल इस बलिदान पर मुग्ध है, खुश है, अब्दुल रशीद को धन्यवाद और स्वामीजी के उत्तराधिकारियों को बधाइयाँ दे रहा है; दूसरा दल दुखी है—जाहिरा में भले ही दबी जबान से खुशी में शामिल हो जाता हो। एक वर्ग

इसका उपयोग हिन्दू-मुस्लिम एकता को मज़बूत और वास्तविक करने में करना चाहता है और दूसरा हिन्दुओं की ताक़त बढ़ा लेने, शुद्धि-संगठन का ज़ोरों से प्रचार करने तथा आर्य-समाज के मतों को फैलाने में। कुछ बिगड़े-दिल ऐसे भी सुने जाते हैं जो स्वामीजी के ख़ून के बदले किसी मुसल्मान का ख़ून करना उचित समझते हैं और, इस तरह अपने ख़याल के अनुसार दुनिया को दिखा देना चाहते हैं कि मुसल्मान बिगड़े-दिलों का मुक़ावला हम इस तरह भी कर सकते हैं। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो हिन्दू-मुस्लिम-एकता की मौक़ा-बे-मौक़ा दुहाई तो देते हैं; पर दिल में, और दिल से, चाहते हैं और उत्सुक हैं कि कब मुसल्मानों का नामोनिशान हिन्दुस्तान से मिट जाय। उन्हें इस घटना से मुसल्मानों के ख़िलाफ़ ज़हर उगलने और हिन्दू-मुसल्मानों में फूट बढ़ाने का पूरा-पूरा मौक़ा मिल गया है। इसी तरह मुसल्मानों में भी जो राष्ट्रीय विचार के या धर्म के मामलों में उदार ख़याल के लोग हैं, उन्होंने अब्दुल रशीद की इस काली करतूत को बुरा कहा है और कहा है कि इसने इस्लाम को नुक़सान पहुँचाया है। उन्हें उसकी इस हरकत पर अफ़सोस है। दूसरे दल के लोग 'ग़ाज़ी' कह कर ख़ूनी का गौरव बढ़ा रहे हैं और मानते हैं कि उसने ख़ुदा का या पैग़म्बर साहब का हुक्म पूरा करके इस्लाम की भारी ख़िदमत की है। जो लोग हिन्दुस्तान में मुसल्मानों का राज्य क़ायम करने के सपने देखा करते हैं और हिन्दुओं को उसका काँटा समझ रहे हैं, वे मुसल्मानों में ख़ब जोश फैलाने, मुसल्मानों की तादाद बढ़ाने और हिन्दुओं को

कमज़ोर कर डालने के मनसूबे बाँध रहे हैं। हिन्दुस्तानी ईसाई लोग आमतौर पर इस काण्ड की निन्दा करते हुए पाये जाते हैं। अँगरेज़ राज-कर्मचारियों में सुख और दुःख दोनों तरह के भाव दिखाई देते हैं। अंगरेज़ी सरकार संभव है, इस घटना से खुश होगी, अगर इसके बदौलत हिन्दू-मुस्लिम-एकता सदा के लिए असंभव वस्तु हो जाय।

एकता—कुदरत का धर्म है—

मगर सरकार को और उसकी तरह स्वार्थी तथा विघ्न-सन्तोषी हिन्दू-मुसल्मानों को अन्त में निराश होना पड़ेगा; क्योंकि आज ऊपर-ऊपर चाहे हिन्दू-मुसल्मानों में फूट की आग फैलती हुई दिखाई देती हो, स्वामीजी की हत्या चाहे उसमें घी का काम देती हुई नज़र आती हो, पर भीतर देखने वाले तुरन्त जान लेंगे कि इस में दोनों जातियों का मैल और बुराई भस्म हो रही है और एक दिन दोनों जातियाँ प्रेम, सद्भाव और एकता से मिल-जुल कर स्वराज्य की लड़ाई में अपना तन-मन-धन स्वाहा करने को तैयार हो जायँगी। क्योंकि, एकता कुदरत का धर्म है। कुदरत का हुक्म है कि मनुष्य ही नहीं, प्राणिमात्र एकता से रहे। बारीक नज़र से देखेंगे तो हमें पता चलेगा कि जीव-मात्र एकता की ओर दौड़ता जा रहा है। विविधता, विरोध, प्रकृति का खेल है; और एकता, सामञ्जस्य प्रकृति के अंदर छिपा हुआ सत्य है। फिर हिन्दू और मुसलमान दोनों के स्वराज्य-वादी लोग, जिनकी संख्या, अपना अपना राज्य क़ायम करने का पागल स्वप्न देखने

वाले हिन्दू-मुसल्मानों से ज़रूर ज्यादह है, यह मानते हैं कि उन दोनों महान् जातियों के एक हुए बिना स्वराज्य नामुमकिन है, और स्वराज्य का तो वे बीड़ा ही उठाये बैठे हैं। अतएव उनकी कोशिशें जान में—अनजान में, मौक़ा-बे-मौक़ा, इसी दिशा में होंगी जो कभी न कभी अपना रंग लाये बिना न रहेंगी। जो हिन्दू-मुसलमान आज शुद्धि-संगठन या तनजीम-तबलीग़ के द्वारा अपनी अपनी जातियों को मज़बूत और बड़ी बनाना चाहते हैं, उनमें भी बहुतेरे लोग ऐसे हैं जो सच्चे दिल से एकता के हामी हैं और इन कामों के उसी हद तक समर्थक हैं जिस हद तक वे राष्ट्रीय एकता को मज़बूत बनाते हों या उसमें बाधक न होते हों। अतएव मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि दोनों जातियों में बहुमत आज भी एकता चाहने वाला है—फिर भले ही आज उनसे उसके लिए उसी सरगर्मी से काम न हो रहा हो जो कि असहयोग के दिनों में उन्होंने दिखाई थी। दूसरे, धारा सभाओं के पिछले चुनाव में साम्प्रदायिकता या जातिगत स्वार्थों की दुहाई देने वाले देश-हितैषियों ने उसके दुष्परिणामों को—उससे फैलने वाली कटुता को, उभड़नेवाली नीच मनोवृत्तियों को, जो कि जाति और देश की स्थायी हानि है—अच्छी तरह देख लिया है और सफलता ने उनके गले में जैसी कि चाही गई थी, वरमाला नहीं डाली है। इधर, सुना है, स्वामीजी के उत्तराधिकारियों ने राष्ट्रीय महासभा को यह आश्वासन दिलाया है कि स्वामीजी महाराज के बलिदान के द्वारा हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य मज़बूत हो, यह हमारी भी कामना है। उधर मुस्लिम लीग के इसी वर्ष जल्से के सभापति

की वक्तृता भी अब की धर्मान्धता और कट्टरपन से बरी है। इन तथा और ऐसी ही बातों को सब तरह तौलते और विचारते हुए कोई भी मनुष्य बरबस इसी नतीजे पर पहुँचेगा कि इस अंधेरे में भी प्रकाश आ रहा है—एकता अपना ज़ोर भीतर ही भीतर ऐसा लगा रही है कि फूट उबल उबल कर, उफन उफन कर, बाहर निकल रही है—जिस तरह बुखार शरीर को नीरोग और दोष-रहित कर देने वाला कुदरत का साधन है, उससे अन्त में जीवनी शक्ति बढ़ती है—उसी तरह यह आज की कटुता, फूट, मनोमालिन्य कल की एकता की अवाई के घोषणा-पत्र हैं।

जो लोग इस रहस्य को जानते हैं और उसको देखने की आँखें जिन्हें हैं, जो किसी चीज़ को ऊपर ही ऊपर नहीं, भीतर भी, तह में भी, देख सकते हैं वे अक्सर इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए पाये जाते हैं—ईश्वर जो करता है भला करता है, भले के लिए करता है। मांगल्य के इस सिद्धान्त पर श्रद्धा रखना ही ईश्वरश्रद्धा या आस्तिकता है। जब भारत के अधिकांश लोग मानते हैं कि एकता अच्छी चीज़ है, एकता हो, उसके बिना, स्वराज्य नहीं मिल सकता, जब अपनी अपनी शक्ति भर, अपने अपने ढंग से, बे मौक़ा-बे-मौक़ा उसके लिए कोशिश भी करते हैं, जब कि दुनिया का रुख़ विरोधों, संकुचितताओं को कम कम करके एकता और सम्मिलन बढ़ाने की ओर है, जब कि ईश्वर खुद, प्रकृति स्वयम्, अपने बन्दों को तथा अपनी रचना की विविधता और विरोध को एकता और मेल की तरफ़ खींच रहे हैं—तब हिन्दू-मुस्लिम-एकता में अविश्वास करना, या उससे

निराश होना ईश्वर से इन्कार करना है, अपनी और दुनिया की हालत को देखते हुए भी न देखना है, जानते हुए भी न जानना है। हम कुदरत की सहायता क्यों न करें ?

कुदरत तो अपना काम कर ही रही है और करेगी ही; पर क्या हम अपनी तरफ़ से भी उस एकता को बढ़ाने, उसका वास्तविक रूप समझ लेने, उसका सच्चा और सरल रास्ता जान लेने, खतरों से अपने को बचाने और सावधान रहने का कुछ उद्योग न करें ? अपनी तरफ़ से भी कुदरत की सहायता न करें ?—खास कर ऐसे अवसर पर, जब कि हिन्दू और मुसल्मान दोनों में विचारों, भावों और चर्चाओं का तूफ़ान सा आ रहा है, जब कि दोनों जातियों में एक ऐसा दल बन गया है, फिर वह कितना ही छोटा क्यों न हो, जो एक दूसरे को घृणा, अविश्वास और भय की दृष्टि से देखता है, जिसे एक दूसरे के कामों को बुरी और शक की ही नज़र से देखने की आदत पड़ गई है, जिसके धर्म, जाति, स्वराज्य, राष्ट्र और मानव-कर्तव्य-सम्बन्धी विचार सुलझे हुए नहीं हैं, और भी इस बात की ज्यादह ज़रूरत है और उसके लिए यही सब से अच्छा अवसर है, जब कि इन विषयों पर गहरा प्रकाश डाला जाय और लोगों के भ्रम, शंका, कुतर्क आदि का यथोचित निराकरण किया जाय। हम हिन्दुओं के लिए तो और भी ज्यादह ज़रूरत इस बात की है कि वे इस अवसर पर अपने कर्तव्य को ठीक ठीक समझ लें।

अपना अनधिकार—

मेरा खयाल है कि मैंने हिन्दू-मुस्लिम-समस्या के प्रायः

प्रत्येक पहलू पर, अपने ढंग पर और अपने तौर पर बहुत कुछ विचार किया है और मेरे अपने कुछ मजबूत ख़याल इस विषय में बन गये हैं। स्वामी जी महाराज की हत्या के बाद स्वभावतः कुछ मित्रों से हत्या के परिणाम, देश का कर्तव्य, एकता का स्वरूप और साधन, हिन्दुओं का कर्तव्य आदि विषयों पर चर्चा हुई। इनसे कुछ भाइयों की उलझनें सुलझी हुई दिखाई दीं। उन्होंने आग्रह किया कि मैं इस अवसर पर अपने विचारों को ज्यों का त्यों जनता के सामने उपस्थित करूँ। मेरे दिल से भी आवाज़ उठी कि अब चुप साध कर बैठे रहना गुनाह है। मैं अपनी ओछी शक्तियाँ और अल्पज्ञान के साथ इस महान् और उलझे हुए विषय पर कलम चलाने का साहस कर रहा हूँ। अपनी अयोग्यता और अनधिकार के ख़याल से कलम संकोच और झिझक के साथ उठी है। आज़ादी, स्वराज्य, एकता और प्रेम के ईश्वरीय भाव मेरे सहायक होंगे।

पहले मनुष्य, पीछे हिन्दू—

मैं अपने को सब से पहले मनुष्य, फिर हिन्दुस्तानी, फिर हिन्दू, फिर ब्राह्मण मानता हूँ। मेरे नजदीक इन चारों बातों में न तो किसी प्रकार की विसंगति है, न विरोध। मेरे विचार में हिन्दू-धर्म में मनुष्यत्व के पूर्ण विकास के लिए काफ़ी जगह है। इस लिए उसके मुक़ाबले में दूसरे मजहब मुझे नहीं जँचते; पर मैं उनको उसी इज्ज़त की निगाह से देखता हूँ, जिससे मैं चाहता हूँ कि वे मेरे धर्म को देखें। पूर्वोक्त विचारक्रम मेरी इसी विचार-

शैली और कार्य-नीति को प्रकट करता है कि मैं किस भाव और किस चीज़ को किसके मुक़ाबले में कितना महत्व देता हूँ फिर भी यह निबंध मैंने प्रधानतः हिन्दू की हैसियत से, प्रधानतः हिन्दुओं को ध्यान में रख कर, उन्हीं के लिए लिखने का प्रयत्न किया है। जल्दी में आवश्यक साहित्य-सामग्री, साधनों और योग्यता के अभाव में, इसका त्रुटि-युक्त और दोष-पूर्ण होना स्वाभाविक है। सम्भव है, इसमें कहीं जानकारी, आदि सम्बन्धी भूलें भी हों; पर जिन सिद्धान्तों और नीतियों की विवेचना इसमें की जाने वाली हैं, उनके सम्बन्ध में मेरे विचार अटल, निर्भ्रान्त और सिद्ध हैं, इसमें मुझे कोई सन्देह नहीं है। अपनी भूल और अनभिज्ञता को समझने और दूर करने के लिए पाठकों और आलोचकों को मैं हमेशा तैयार मिलूँगा।

२—हिन्दू-मुस्लिम-प्रश्न क्या है ?

हिन्दू और मुसल्मान दुनिया की दो महान् जातियाँ हैं—हिन्दू बहुत प्राचीन जाति है—आदिम काल में उसका नाम आर्य था। महर्षि दयानन्द ने फिर इसी नाम को प्रचलित करना चाहा था। उनके मतावलम्बी आर्यसमाजी कहलाते हैं—अब भी 'आर्य' शब्द सारी हिन्दू-जाति ने अपने लिए ग्रहण नहीं किया है। हिन्दू-जाति में सिक्ख, जैन, बौद्ध, आर्य, और सनातनी, इन सभी संप्रदायों की गणना होती है। आर्य और सनातनी वेदों को अपना सब से बड़ा धर्मग्रन्थ मानते हैं, सिक्ख ग्रन्थसाहब को, जैन भगवतीसूत्र को, और बौद्ध धम्मपद को। आर्य दयानन्द को, सनातनी अवतारों को, सिक्ख नानक को, जैन महावीर को और बौद्ध गौतम बुद्ध को अपने प्रवर्तक या महान् पुरुष मानते हैं और उनके रचे ग्रन्थों और किए कार्यों को अपने लिए पथदर्शक मानते हैं। हिन्दू-धर्म-साहित्य में श्रीकृष्ण भगवान् की गीता एक ऐसी पुस्तक है, जिसे सब हिन्दू—और हिन्दू ही क्यों, संसार के सब धर्मों के विचारशील लोग—बड़े आदर की दृष्टि से देखते हैं। मेरी राय में सारी हिन्दू-जाति का धर्मग्रन्थ यदि कोई हो सकता है तो वह है श्रीमद्भगवद्गीता—यह कहना शायद इस समय बहुत बड़ा साहस, और समय से बहुत पहले कही गई बात, होगी कि सारी दुनिया के मजहबों का अथवा भावी विश्व-धर्म का कोई आधाररूप ग्रन्थ आज दुनिया में उपलब्ध है, तो वह है गीता।

हिन्दुओं की संख्या इस समय भारतवर्ष में कोई २१ करोड़ है। जापान, चीन, तिब्बत, ब्रह्मदेश आदि के बौद्धों की संख्या यदि जोड़ी जाय तो हिन्दू दुनिया में ७० करोड़ हो जाते हैं।

मुस्लिम-जाति—

इस्लाम का जन्म दुनिया के इतिहास में हुआ। हज़रत मुहम्मद इस्लाम के जन्मदाता और मुसलमानों के लिए ईश्वर के प्रतिनिधि हैं। क़ुरान उनका सब से मान्य धर्म-ग्रन्थ है, जो कि पैग़म्बर साहब के उपदेशों और आज्ञाओं का संग्रह है। इनमें कई फिरके हैं—पर सब कुरान और मुहम्मद साहब को एक सा मानते हैं! इनकी तादाद हिन्दुस्तान में ७ करोड़ और बाहर ४० करोड़ है। इस्लाम का जन्मस्थान अरब है।

मुसल्मानों का भारत पर हमला और धर्म-प्रचार—

जब मुसल्मानों का आवागमन हिन्दुस्तान में शुरू हुआ तब यहाँ हिन्दू खूब फल-फूल रहे थे। भारत की सरसब्ज़ी ने ही मुसल्मान आक्रमणकारियों को इस देश में खींचा। सदियों तक मुसल्मानों का राज्य इस देश में रहा। हिन्दुओं से उनकी लड़ाइयाँ हुईं। अँगरेज़ी राज होने तक हिन्दू-मुसल्मानों की कई स्वतन्त्र रियासतें यहाँ थीं। मुसल्मान राजाओं ने अपने मज़हब के लोगों की तादाद बढ़ाने के लिए हिन्दुओं पर बड़ा ज़ुल्म किया, उन्हें तलवार के बल जब्रन् क़ल्मा पढ़ाया। यह कड़वी स्मृति हिन्दू अब भी भुलाये नहीं भूल पाते।

हिन्दुओं और मुसल्मानों का संबंध शुरू होता है आक्रमण-

कारी और प्रतिकारी के रूप में और उसका अन्त होता है एक देश के समान राजा और प्रजा के रूप में। मुसलमानों के आक्रमणों का मुख्य उद्देश होता था इस्लाम का फैलाव। इसका सब से बड़ा साधन और प्रमाण वे मानते थे दूसरी जातियों और मजहब के लोगों को इस्लाम की दीक्षा दे देना।

एकता की भावना और कोशिश—

जैसे जैसे मुसलमानों का प्रभाव हिन्दुस्तान में बढ़ता गया और वे यहीं जम कर रहने लगे तैसे तैसे हिन्दुओं और मुसलमानों के नेताओं के दिल में दोनों जातियों को एकता के सूत में बाँधने का ख़याल उठने लगा। यह कुदरती बात थी। इतने विशाल देश में, ऐसी दो प्रबल जातियों का परस्पर विरोधी बने रहना समाज-तत्त्व, मानव-स्वभाव और कुदरत के धर्म के ख़िलाफ़ था। नानक, अकबर, कबीर ने दोनों जातियों के समान गुणों के विकास और दोनों के धर्मों के परस्पर अनुकूल सिद्धान्तों के प्रचार पर जोर देकर दोनों को एक दूसरे के नजदीक लाने की कोशिश की, पर नानक के प्रयत्नों का अन्त सिक्ख-संप्रदाय के उदय में और कबीर की प्रवृत्ति का फल कबीर-पन्थ की सृष्टि के रूप में हुआ। अकबर का 'दीने इलाही' कली ही में मुरझा गया। पीछे औरंगजेब की धार्मिक क्रूरताओं ने हिन्दू-मुसलमानों के द्वेष की जड़ को बहुत मजबूत कर दिया, यहाँ तक कि ऐसा भाव दृढ़ हो गया कि हिन्दू-मुसलमान दोनों, मानों कुदरती तौर पर एक दूसरे के ख़िलाफ़ जन्मे हों।

संस्कृतियों का लेन-देन—

इन दोनों जातियों के संघर्ष और सम्पर्क से भारतवर्ष को लाभ हुआ या हानि, यह कहना बहुत कठिन है। हिन्दुओं के हिन्दुस्तान की दृष्टि से देखें तो हिन्दुओं के सुख-साम्राज्य में एक बाधक और हिस्सेदार शक्ति खड़ी हो गई; और मानव-वंश के हिन्दुस्तान की दृष्टि से देखें तो, कुदरत के नियम के अनुसार, दोनों के धर्म और संस्कृति के लेन-देन से दोनों को, और समष्टि रूप से सारी मानव-जाति को, लाभ ही पहुँचा। प्रकृति का कोई काम मनुष्य के अहित के लिए नहीं होता। मुसल्मानों के एक ईश्वरत्व, भ्रातृभाव के सिद्धान्तों का असर हिन्दुओं पर और हिन्दुओं के वेदान्त-सिद्धान्तों का असर मुसल्मानों के सूफ़ी-मत पर हुआ। मुसल्मानों ने अपनी रसिकता और कला-कौशल, काव्य, संगीत, चित्रकला और स्थापत्य से भारत की ललित कलाओं को पुष्ट किया और हिन्दुओं ने अपनी सात्विकता का अंश उन्हें दिया। फिर भी यह नहीं कह सकते कि इन दोनों जातियों और संस्कृतियों के सम्पर्क का ईश्वरीय हेतु पूरी तरह सफल हो गया। हिन्दुस्तान में अब तक न तो पूरी तरह इस्लाम संस्कृति का ही सिक्का जम पाया है, न हिन्दू-संस्कृति का ही बोल बाला हो पाया है, न दोनों के मिश्रण से तीसरी, दोनों को बढ़ाने और नज़दीक लाने वाली, संस्कृति का ही निर्माण हो पाया है। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि हिन्दू-संस्कृति इतनी प्राचीन होते हुए भी मुस्लिम संस्कृति के पहले की भारत-निवासियों की संस्कृतियों को अपनाने की शक्ति प्रदर्शित

करते हुए भी, क्यों इस नवागत मुस्लिम संस्कृति को पूरी तरह न अपना पाई ? क्यों वह अब तक मुसलमानों से दूर दूर रहती है ? ऐसा मालूम होता है कि इस्लाम प्रबल वेग और खूनी हथियारों को लेकर भारत में आया, और इसलिए शायद हिन्दू-संस्कृति उसे अपनाने से हिचकती रही, उसे शंका रहती रही कि उसे अपनाने के मोह और यत्न में कहीं मैं ही अपना अपनापन न खो बैठूं। शायद इसीलिए वह अपनेपन की रक्षा करती हुई बैठ रही—मुस्लिम संस्कृति से समझौता करना उसे महँगा सौदा मालूम हुआ ! उसका यह सन्देह या सावधानता उसके इस्लाम, मुस्लिम-जाति और संस्कृति संबंधी अपने विरोध का प्रतिकारक या असहयोगात्मक अथवा बहिष्कारात्मक विधि-निषेधों की कैफ़ियत देती है। मुसलमान राजाओं ने अपनी ओर से हिन्दुओं की लड़कियाँ लेने, उनसे खान-पान का संबंध बढ़ाने अर्थात् सामाजिक संबंध जोड़ने की कोशिशें कीं; पर हिन्दुओं ने उनका प्रतिकार ही किया, क्योंकि मुसलमान इस संबंध के द्वारा हिन्दू-भारत को मुस्लिम-भारत बनाने की जितनी महत्वाकांक्षा रखते थे, उतनी शायद, दोनों संस्कृतियों के मिलाप और उससे दोनों जातियों के अस्तित्व को न हिलाते हुए एक सामान्य संस्कृति निर्माण करने की आकांक्षा न रखते थे। मुसलमानों की इसी आक्रामक प्रवृत्ति का जवाब था हिन्दुओं की असहयोगात्मक प्रवृत्ति। हिन्दू भी इतने उदार चेता तो शायद न रहे हों कि जान-बूझ कर, दोनों संस्कृतियों के मिलाप के भाव से प्रेरित होकर, अपनी संस्कृति में आवश्यक संशोधन या परिवर्तन करें। जो हो;

यह निर्विवाद है कि मनुष्य के हृदय में प्राय: अज्ञात-रूप से बसने वाली समाजशीलता—मिल कर रहने की इच्छा—ने अपना काम किया ही—कुदरत ने अपना धर्म निबाहा ही—जिसके फल स्वरूप आज हिन्दू और मुसल्मान दोनों एकता का ख़याल मन में ला और जमा सके हैं, पिछले पाँच-सात वरसों में उसके लिए दिलो जान से कोशिशें हुई हैं और आज भी क़ुदरत उन्हें कड़वी घूंटें पिला पिलाकर, ठोंकरों और थपेड़ों से सीधा करती हुई उसी ओर ले जाने की चेष्टा कर रही है।

फूट में अँगरेज़ी राज का हिस्सा—

भारतीय इतिहास के मुसल्मान-काल में हिन्दू और मुसल्मान, दोनों अपनी रक्षा और एक-दूसरे का विरोध-करने में हर तरह आज़ाद थे। इन से दोनों अपने मनोभावों के अनुसार अपनी शूरवीरता का उपयोग कर पाते थे। फलत: उस समय उन्हें एक दूसरे से इतना भय, एक दूसरे पर इतना अविश्वास, संशय न था जितना कि आज, अँगरेज़ी राज्याधीन भारत में, देखा जाता है। डर, अविश्वास, संशय, गुलामी के चिह्न हैं, कमज़ोरी के सबूत हैं। अँगरेज़ों ने हिन्दुस्तान को आपस की—हिन्दू-हिंदुओं की और हिन्दू-मुसल्मानों की—फूट से भरा पाया। उसको जिस तरह बन पड़े क़ायम रखना सहज ही उनके साम्राज्य को कायम रखने और पनपाने का मूलमंत्र हो गया। उनके धार्मिक बातों में उदासीनता रखने के औदार्य के ढोंगने, हिन्दू और मुसल्मानों को छोटी-छोटी सामाजिक या व्यावहारिक बातों को धर्म का उच्च स्वरूप दे देकर, उनके लिए अख़बारों में, सभाओं

में तू तू-मैं मैं करने का, चुपके चुपके एक-दूसरे के खिलाफ़ ज़हर फैलाने का, और कहीं कहीं दंगे-फ़साद, खून-ख़राबी कर बैठने का रास्ता खुला कर दिया। जब तक, जहाँ तक और जिस तरह उसके स्वार्थ की पूर्ति होती है, वह इन रास्तों में उन्हें बामिजाज़ चलने देती है; कुछ लोग तो उस पर यह भी इल्ज़ाम लगाते हैं कि वह ऐसे झगड़े और मनमुटाव पैदा भी कराती है और इन में एकता होने के मौकों को नज़दीक नहीं आने देती। कभी एक दल को, कभी दूसरे को पुचकार कर वह दोनों में अनुचित और बुरी स्पर्द्धा और उसके फल स्वरूप द्वेष की आग सुलगाती रहती है; और छोटी बुद्धि, छोटे भाव, ओछे विचार और गंदा स्वार्थ रखने वाले हिन्दू-मुसलमान उसके शिकार हो कर दोनों की गुलामी को मज़बूत बना रहे हैं। कहने का तात्पर्य यह कि मुसलमान-काल की अपेक्षा इस अँगरेज़ी-काल में हिन्दू-मुस्लिम-प्रश्न ज्यादह जटिल हो गया है और दोनों की गुलामी न उस उलझन को अच्छी तरह समझने देती है, न समझने के बाद उसे सुलझाने के राजमार्ग पर चलने ही देती है। यद्यपि मुसलमान-काल से आज एकता की आवश्यकता अधिक स्पष्ट और निश्चित हो गई है, तथापि उसके साधन, उसकी स्वतंत्रता पहले से बहुत कम, बहुत विवादास्पद और इसीलिए उसकी सफलता बहुत असाध्य हो गई है, एवं उसके लिये बहुत सावधानी, दूरदर्शिता, व्यवहार-चतुरता, धीरज, सहिष्णुता और दानाई की ज़रूरत है।

एकता-स्वराज्य का प्रश्न—

अँगरेज़ी राज्य और पश्चिमी शिक्षा की एक देन भारतवर्ष

को अवश्य माननी चाहिए। वह है विदेशों के और विदेशी शासनादर्शों के तथा शासन-व्यवस्थाओं के अध्ययन का अवसर भारतवासियों को मिलना। इससे उन्हें राष्ट्रीयता, स्व-शासन, स्वतंत्रता, स्वराज्य, प्रातिनिधिक शासन-व्यवस्था, आदि की व्यापक और सार्व देशीय कल्पना और धारणा मिली, या दृढ़ अथवा विकसित हुई। इसके प्रकाश में भारतवासियों ने स्वराज्य के आदर्श को पहचाना और उसके लिए हिन्दू-मुस्लिम एकता को अपने पूर्ण, वास्तविक और आवश्यक रूप में देखा। अतएव मुसलमान-काल में चाहे हिन्दू-मुस्लिम-प्रश्न, संस्कृतियों के आदान-प्रदान का प्रश्न रहा हो, सामाजिक सुविधा-असुविधा का प्रश्न रहा हो; आज वह स्वराज्य का, स्वाधीनता का महाप्रश्न हो बैठा है। जिसने हिन्दू-मुसलमानों के इस प्रश्न को नहीं समझा, उसने न तो स्वराज्य को समझा है और न हिन्दुओं के वर्तमान और भविष्य को ही पहचाना है।

३—एकता के वर्तमान प्रयत्न

जातिगत संस्थायें और जातिगत भाव—

अँगरेजों के राज्य की भारत में स्थापना और वढ़ती के साथ ही साथ हिन्दू-मुसल्मान में परस्पर भय, अविश्वास, संशय के भाव वढ़ते गये। जहाँ भारत के विशाल-दृष्टि नेताओं ने स्वराज्य के आदर्श को पहचाना, राष्ट्रीय एकता के मूल्य को समझा, राष्ट्रीय महासभा की स्थापना की, तहाँ दोनों जातियों के छोटे-छोटे और तंग ख़याल के अथवा अपनी अपनी जातियों की सुरक्षा के लिए, अधिक चिन्तित और शंकित नेताओं ने कुछ तो पुरानी दुश्मनी की स्मृति से, कुछ भावी स्वराज्य में अपनी अपनी जातियों की स्थिति की संदिग्ध कल्पना से, वेचैन हो, कुछ अपने अपने समाजों की बुराइयाँ दूर करने के भाव से प्रेरित हो, अपनी अपनी जातीय या साम्प्रदायिक संस्थायें खड़ी कीं। मुस्लिम लीग, हिन्दू-महासभा, अलीगढ़ का मुस्लिम विश्वविद्यालय और काशी का हिन्दू-विश्वविद्यालय, इनके मूर्तस्वरूप और शायद एक हद तक एक दूसरे की प्रवृत्तियों के जवाव-रूप हैं। जहाँ तक मेरा ख़याल है, इन दोनों संस्थाओं की प्रवृत्ति आरंभ में समाज-सुधार, शिक्षा-प्रचार-मूलक ही थीं। राजनैतिक अधिकार या महत्वाकांक्षायें उस समय चाहे वीज-रूप में भले रही हों। संभव है, यह सत्य हो कि पहले मुसल्मानों ने अपनी अलग खिचड़ी पकानी शुरू

की हो और उससे जागृत या सावधान होकर हिन्दुओं ने अपनी भी अलग खिचड़ी पकाना शुरू किया हो।

लखनऊ का समझौता—मुसलमानों का डर—

लखनऊ काँग्रेस तक मुसलमान राष्ट्रीय महासभा से अलग रहते थे। सारे भारत की तरफ़ से स्वराज्य की माँग का मसविदा पेश करने का समय आया। राष्ट्रीय महासभा के नेताओं ने, जो प्रायः हिन्दू ही थे, और कुछ राष्ट्रीय विचार के मुस्लिम नेताओं ने इस बात को जोर के साथ अनुभव किया कि स्वराज्य की राष्ट्रीय माँग तब तक 'राष्ट्रीय' न हो सकेगी जब तक मुसलमान राष्ट्रीय महासभा से पृथक् रहते हैं। यहाँ से मुसलमानों के साथ राजनैतिक एकता करने का प्रश्न भारतीय वायुमण्डल में व्याप्त होने लगा। भारत के भावी स्वराज्य का आदर्श तो पार्लियामेंटरी—प्रातिनिधिक—ही हो सकता था। प्रातिनिधिक स्वराज्य के मानी हैं—बहुमत का राज्य। भारतवर्ष में हिन्दुओं की संख्या अधिक है, मुसलमानों से प्रायः तिगुनी। शिक्षा, सुधार आदि में भी हिन्दू मुसलमानों से बढ़े-चढ़े हैं। राजनैतिक बातों में भी महासभा में भी वे ही अगुआ हैं। ऐसी अवस्था में मुसलमानों को यह सन्देह या भय हुआ कि भारत के भावी स्वराज्य में तो हिन्दुओं की ही तूती बोलेगी—मुसलमानों को उनसे दब कर रहना पड़ेगा। उन्हें यह भी डर हुआ हो तो ताज्जुब नहीं कि हिन्दुओं के मन से मुसलमानों की ज्यादतियों की पुरानी कड़वी याद मिटी नहीं है। इधर आर्यसमाज से, उधर हिन्दू-महासभा से उन्हें खौफ़ था।

उन्हें स्वराज्य के समय में अपनी क़ौमी, बेहतरी और बहबूदी का एक ही रास्ता दिखाई दिया—स्वराज्य में उनके प्रतिनिधियों की संख्या ज़्यादह हो। इसके लिए वे क़ौमी प्रतिनिधित्व माँगते थे और उनकी संख्या भी ज़्यादह चाहते थे। राष्ट्रीय महासभा के सामने बड़ी दुविधा खड़ी हुई। एक ओर राष्ट्रीय कामों में क़ौमी वसूल के घुसने का संकट था, दूसरी ओर मुसल्मान राज़ी न हों और स्वराज्य की माँग पर उनके दस्तख़त न हों तो ब्रिटिश सरकार और ब्रिटिश जनता पर उसका असर कुछ न होने का अन्देशा था। हिन्दू और मुस्लिम जाति दो धर्मों की प्रतिनिधि हैं। दोनों धर्मों के व्यवहार की कितनी ही बातें ऐसी हैं, जो एक दूसरे के ख़िलाफ़ पड़ती हैं, परन्तु जिनका देश के शासन-संचालन से थों कोई ताल्लुक़ नहीं, हिन्दुओं और मुसल्मानों में अभी राष्ट्रीय विचार और धर्म के मामलों में उदार ख़याल के अथवा धर्म की मुख्य और असली बातों का तथा ऊपरी और न-कुछ बातों का पूरा पूरा भेद समझने और उस पर क़ायम रहने वाले विवेकशील लोगों की संख्या काफ़ी न हो पाई थी। ऐसी हालत में राष्ट्रीय मसलों का फ़ैसला करने में क़ौमी या धर्म की ऊपरी बातों को, जिन्हें लोग आम तौर पर धर्म के सिद्धान्तों से भी बढ़कर महत्त्व देते रहते हैं, प्रधानता मिलने से सारा राष्ट्रीय काम ही गड़बड़ हो जायगा। दोनों जातियों का मनमुटाव और फ़िरक़ेबंदी राष्ट्रीय महासभा में भी घुस जायगी और स्वराज्य तथा स्वराज्य की माँग ताक में रक्खी रह जायगी। एक ओर यह भय था और दूसरी ओर मुसल्मानों को ख़ुश करना ज़रूरी था।

उस समय राष्ट्र को इस महान् दुविधा से लोकमान्य तिलक महाराज ने निकाला। उन्होंने कहा—मैं हिन्दुस्तानियों के लिए स्वराज्य चाहता हूँ। मुसलमान हिंदुस्तानी हैं। अतएव यदि सारा राज्य उन्हीं को दे दिया जाय तो मुझे चिन्ता नहीं। ऐसी हालत में मुसलमानों की पृथक् निर्वाचन की और अधिक संख्या में प्रतिनिधि भेजने की माँग हिन्दू लोग स्वीकार करलें। उस समय उनके सामने आदर्श और सिद्धान्त का तात्विक प्रश्न नहीं था। स्वराज्य की राष्ट्रीय माँग का व्यावहारिक प्रश्न था। उन्होंने भारतवर्ष को एक कुटुम्ब और हिन्दुओं को बड़ा तथा मुसलमानों को छोटा भाई मानकर इस समस्या को हल किया। कुटुम्ब में जब छोटा भाई जिद पकड़ लेता है तब बड़ा भाई या दूसरे बुजुर्ग लोग देन-लेन के अमली तरीक़े से दोनों का झगड़ा मिटा देते हैं। उसमें वे बड़े भाई के बड़प्पन, उदारता, को जाग्रत करते हैं, रिझाते हैं, छोटे भाई की जिद पर ध्यान न देने, उसकी नासमझी पर तरह देने, की सिफ़ारिश करते हैं और दोनों में मेल करा देते हैं। लोकमान्य ने इसी कौटुम्बिक न्याय पर हिन्दू-मुस्लिम-प्रश्न को सुलझाया। उन्होंने हिंदुओं को दबने या झुकने की सलाह नहीं दी। अपनी संख्या और गुण-शील के योग्य बड़प्पन और उदारता का परिचय देने की सलाह दी। उन्होंने मुसलमानों के ओछे विचारों और अनुचित माँगों से लड़ने के बजाय, दलीलों और अन्य उपायों से उनके मनोभावों को दबा कर आगे भभक उठने का अवसर देने के बजाय, उनके अंतःकरण पर अपनी नैतिक विजय करने की सलाह दी। भय और दबाव की विजय तो शरीर

पर होती है, सो भी थोड़े दिन के लिए, लेकिन बड़प्पन, उदारता और एहसान के द्वारा तो हृदय ही जीत लिया जाता है। शारीरिक विजय प्रतिरोध और प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है। मानसिक और नैतिक विजय प्रतिपक्षी को सदा के लिए निःशस्त्र कर देती है। इसी स्वर्ण-नियम के अनुसार लोकमान्य ने महासभा को उस समय झुकने की सलाह दी। महासभा ने मुसल्मानों की क़ौमी प्रतिनिधि की तथा उनकी ज्यादह संख्या की माँग स्वीकार की।

लोकमान्य की प्रौढ़ नीति का यह सुफल हुआ कि लखनऊ ही में मुसल्मान बहु संख्या में महासभा में शरीक हुए और हिन्दू-मुस्लिम-एकता की पक्की बुनियाद पड़ गई, एवं स्वराज्य की मूर्ति का लोग दूर से क्यों न हो, दर्शन करने लगे। लोकमान्य को हिन्दू-मुस्लिम-एकता के जनक का पद मिला। सारे देश में आनंद और संतोष की लहर फैल गई।

महात्मा गाँधी के प्रयत्न—

उसके बाद होमरूल आन्दोलन, श्रीमती बेसेंट की गिरफ्तारी रौलट ऐक्ट, जलियाँवाला हत्याकाण्ड, खिलाफ़त आदि दोनों जातियों के सामान्य संकटों ने, एक-दूसरे को नजदीक आने के लिए, प्रोत्साहित किया और खिलाफ़त तथा असहयोग-युग में तो महात्मा गाँधी के नेतृत्व में हिन्दू-मुस्लिम-एकता एक सच्ची और अमर चीज़ सी दिखाई देने लगी थी। उन्होंने लोकमान्य के निर्धारित मार्ग को और विशद किया तथा मित्रता और बन्धुता के आदर्श और उसके आदर्श-पालन के द्वारा, मुस्लिमों को हिंदुओं का एहसानमंद

वना दिया, हिंदुओं को मुसलमानों की दृष्टि में ऊँचा उठा दिया, और दोनों के कंधों पर स्वराज्य का भार ला कर रख दिया। महात्माजी ने इस एकता का सूत्र वताया-अपने अपने कर्तव्यों का निरपेक्ष भाव से पालन करो ! हिन्दू मुसलमानों की खिलाफ़त में विला किसी शर्त के मदद करें। मुसल्मान हिंदुओं की गो की रक्षा अपने ज़िम्मे लें। उन्होंने एक दूसरे को परस्पर एहसान के बंधन में सदा के लिए वाँध देना चाहा था। वे वनिये की तराजू हाथ में लेकर नहीं, वल्कि सुधारक का ख़ज़ाना खोल कर हिंदू मुस्लिम-समस्या को सदा के लिए हल करना चाहते थे। खिलाफ़त संग्राम में हिन्दुओं को मुसल्मानों के साथ और स्वराज्य-संग्राम में मुसल्मानों को हिन्दुओं के साथ, अँगरेज़ी सरकार से लड़ाकर दोनों में एक योद्धा और नागरिक के नाते आवश्यक गुणों का विकास, परस्पर की स्फूर्ति के द्वारा, कराना चाहते थे। अपने काम के लिए मर मिटने की तैयारी वे मुसल्मानों के सहयोद्धा वनाकर हिन्दुओं में लाना चाहते थे, और हिन्दुओं के संसर्ग में मुसल्मानों की जहालत कम कर देना चाहते थे। खिलाफ़त संवंधी ग्रेट ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री के वचन-भग जैसी मक्कारियों का मुक़ावला करना और कराना, जहाँ वे हर व्यक्ति का धर्म समझते थे और मनुष्यता, नीति और धर्म के उच्च सिद्धान्तों को सामने रख कर ही वे इस युद्ध में पड़े थे तहाँ, दूसरी ओर, उनके विराट् आन्दोलन के फल-स्वरूप ब्रिटिश साम्राज्य-वाद के खिलाफ़ सारी एशिया के एकीकरण और संगठन की वुनियाद पड़ सकती थी। खिलाफ़त की समस्या ब्रिटेन और तुर्किस्तान की समस्या

नहीं, यूरोप और एशिया की, पूर्व और पश्चिम की समस्या हो बैठी थी। खिलाफ़त में योग देकर वे मुसलमानों की धर्मान्धता को नहीं बढ़ा रहे थे, वल्कि उसे शुद्ध धार्मिक रंग में रंग रहे थे। धर्मान्धता ज़रूर बुरी और हेय चीज़ है; पर धर्म-भाव तो जीवन के लिए आवश्यक खुराक है। इसका असर भी इस्लाम के अन्तःकरण पर हो रहा था। अलीभाई जैसे एक देशीय कट्टर मुसलमान उदार और राष्ट्रीय बनते जा रहे थे। धर्मान्धता में सरावोर मुसलमानों की मसजिद में वेद-मन्त्रों का उच्चारण और कट्टर आर्य-समाज के नेता स्व० स्वामी श्रद्धानन्दजी का भाषण—यह अलौकिक दृश्य उसी मंत्र का प्रभाव था। मुसल्मानों के हिंसात्मक स्वभाव को रोकने और रफ़्ता रफ़्ता कम कराने की रसायन, खिलाफ़त का उद्धार और स्वराज्य की प्राप्ति, पूर्ण अहिंसात्मक साधनों से करने का भार मुसल्मानों के सिर पर रख देने से बढ़ कर और क्या हो सकती थी? मुसल्मानों के धर्म-भाव को कायम और जाग्रत रखते हुए, उन्होंने एक ओर जहाँ उनकी संकुचितता, हठधर्मी को दूर करने का उद्योग किया तहाँ उनकी उदारता, कृतज्ञता और शौर्य आदि गुणों को विकसित करने का भी प्रयत्न किया। मुसल्मानों का यह कहने लगना कि गोरक्षा को मुसल्मानों पर छोड़ दो, कितने ही मुसल्मानों का गो-मांस खाना छोड़ देना—इसका प्रमाण है। महात्माजी के सात्विक आदर्श सात्विक आचरण, सात्विक स्फूर्ति के प्रभाव से मुस्लिम संस्कृति का तामस भाव कम हो रहा था। यह ठीक है कि महात्माजी के जेल जाने के वाद मुस्लिम स्वभाव का यह सुधार-क्रम आगे न

बढ़ा—और शायद कुछ हद तक पीछे भी हट गया हो; पर इसका कारण एक मात्र मुसलमानों की राजनैतिक महत्वाकांक्षा, उजड्ड-पन, या धर्मान्धता ही है या हिन्दुओं की अदूरदर्शिता, जल्द-बाज़ी, या अधीरता भी है, यह विचारणीय बात है।

मुसलमानों की ग़लती और हिन्दुओं का जवाब—

देश के दुर्भाग्य और स्वराज्य के शाप से मुसलमानों की धर्मान्धता और हिंसा-प्रवृत्ति मोपला, गुलबर्गा मुल्तान, सहारनपुर और कोहाट के भीषण हत्याकाण्डों के रूप में फूट निकली, जिसने कि पहले से सचिन्त और शंकित हिन्दुओं के दिल को ज़ख्मी कर दिया और उनके दिल में होने वाले सुधार तथा परिवर्त्तन को सहसा बड़ा धक्का पहुँचाया। इन दंगों के बारे में अब तक जो हालात ज़ाहिर हुए हैं, उनसे आम तौर पर लोग इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि हिन्दुओं का क़ुसूर कम, मुसलमानों का क़ुसूर ज्यादह था। बेशक ज़िम्मेवार मुसलमान नेताओं ने उन अपनी जाति के दंगाइयों की लानत-मलामत की है; पर यदि मैं मुसलमान और मुस्लिम नेता होता तो इतने से सन्तोष न मान बैठता। मैं इस्लाम और मुस्लिम संस्कृति में से उन कारणों को खोजता, जिन्होंने धर्मान्धता और हिंसा-काण्ड को आम मुसलमानों का दूसरा स्वभाव-सा बना दिया है और उनके दूर करने में कोताही या ग़फ़लत न करता। मोपला और गुलबर्गा के उत्पातों ने महात्माजी के एकता-कार्य में भी बड़ी बाधा पहुँचाई और उनके जेल जाने के बाद होने वाले दंगों और खून-ख़ज्जर

ने, तथा उनके कारण या कार्य-रूप पैदा होने और बढ़ने वाले तबलीग़-तनज़ीम और शुद्धि-संगठन के तीव्र संक्षोभ और आन्दोलनों ने तो, एकता तो दूर रही, हिन्दु-मुसलमानों में वह कटुता और शत्रुता पैदा कर दी, जो पुरानी शत्रुता को भी एकबार भुला देती है। यह मान लेने पर भी कि दंगों में मुसलमान ही अधिकांश दोषी थे, शुद्धि और संगठन मुसलमानों के तबलीग़ और तनज़ीम का जवाब था, यह दावे के साथ नहीं कह सकते कि हिन्दू सब तरह बरी हैं और उनके शुद्धि-संगठन सर्वांश में शुद्ध-रूप से चले और चल रहे हैं। मुसलमानों की तरफ़ से ज्यादती होने पर भी, हिन्दुओं के दिल को चोट पर चोट पहुँचती रहने पर भी, स्वराज्य, एकता और हिन्दू-धर्म के नाम पर, मैं यह कहना चाहता हूँ कि हम हिन्दुओं ने उस बुज़ुर्गी, दानाई, दूरंदेशी और धीरज का परिचय नहीं दिया जिनकी हमसे उम्मीद की जा सकती थी। यही सब से बड़ा अवसर हमारी परीक्षा का था, जिस समय हमें अजहद चतुराई और हिकमतअमली से काम लेना था, पर हमने ग़लती खाई। हमें जितना ऊँचा उठना चाहिए था—हमारा धर्म और संस्कृति हमें जिस ऊँचे आसन पर बिठा रही है—उतने ऊँचे न उठना ही हमने उचित समझा। मैं यह नहीं कहता कि मुसलमानों की बुराइयों का प्रतिकार अथवा शुद्धि-संगठन का आन्दोलन साधारण मनुष्य-स्वभाव के या नीति-नियमों के विपरीत है; बल्कि मैं तो यह कहता हूँ कि उस समय हम से असाधारण व्यवहार की आशा की गई थी और की जा सकती थी। यदि मैं मुसलमान होता तो आज के मुसलमानों की तरह हिन्दुओं के स्वरक्षात्मक प्रतीकारों

पर चिल्ल-पों न मचाता, बल्कि उनके उद्योग की क़द्र करता— हाँ, अपनी जाति को अलबत्ता उनकी भूमिका से ऊँचा उठने की प्रेरणा करता, जैसा कि, हिन्दू होने के कारण, हिन्दुओं को उसके लिए प्रेरित करना मैं अपना धर्म समझता हूँ। एक हिंदू के नाते मेरा कर्तव्य है कि मैं अपनी जाति को उसके दोष, त्रुटि भूल आदि पर ध्यान देकर उन्हें दूर करने की प्रेरणा करूँ—और दूसरों के गुणों और खूबियों को देखने और उनका अनुकरण करने को सलाह दूँ। यदि हिन्दू और मुसल्मान दोनों, बिना दूसरे की राह देखे या उनसे कुछ उम्मीद रक्खे,—निरपेक्ष भाव से— एक दूसरे के प्रति अपने अपने कर्तव्य का तो पालन करें—अपनी बुराइयों, कमियों और ख़ामियों को तो दूर करने में लगे रहें; पर दूसरों की बुराइयों और कमियों पर ध्यान न देकर ग़म खाते रहते तो दोनों का सुधार भी जल्द हो जाता और दोनों में प्रेम, सद्भाव क़ायम रह कर एकता अमिट हो जाती। नहीं, मैं तो कहता हूँ कि मुसल्मानों के ग़लती करने पर भी यदि हम हिन्दू उनकी ग़लती का जवाब उसी तरीक़े से न देकर अपनी राह न छोड़ते, निरपेक्ष भाव से बिना विचलित हुए, बिना डरे अपने कर्तव्य पर डँटे रहते तो मुसल्मान अपने आप लजाते और सीधे रास्ते आ जाते। कर्तव्य एक चीज़ है, सौदा दूसरी चीज़ है। कर्तव्य में कोई शर्त नहीं होती; सौदा शर्तों पर होता है। बाप-बेटा और पति-पत्नी अथवा भाई-भाई यदि सौदे के सिद्धान्त पर चलें तो एक मिनिट सुलह से नहीं रह सकते। पश्चिम सौदे का पुजारी है इसलिए वहाँ का कौटुम्बिक और सामाजिक जीवन

कलह का घर हो रहा है। जिस हद तक प्रेम या कर्तव्य का भाव उस सौदे को अपने नियंत्रण में रखता है, उस हद तक वहाँ सुख-शान्ति दिखाई देती है! भारत कर्तव्य का पूजक है। कर्तव्य का तत्व सौदे के तत्व से अधिक परिपक्व है और अधिक अनुभवी समाज—शास्त्रियों के दिमाग़ की उपज है।

हिन्दुओं के ऐतराज़—

परन्तु ऐसी सलाह देने पर हिंदू कहते हैं, "हम महात्मा नहीं हैं, हम साधु नहीं हैं, हम हिंदुत्व खोना नहीं चाहते, हम मुसल्मानों से दब कर नहीं रहना चाहते, हमारी उदारता से मुसलमान बेजा फ़ायदा उठाते हैं—खिलाफ़त में हमने मुसलमानों का साथ दिया—भाईचारा निबाहा, उसका बदला उन्होंने हमें मालाबार, गुलबर्गा, मुल्तान, सहारनपुर और कोहाट में हम पर सितम गुज़ार कर दिया। यह तो जाति ही बेइमान है; इनके तो धर्म-ग्रन्थ, इनकी तो संस्कृति ही मार-काट, लूट-खसोट के इतिहासों से भरी पड़ी है। ये तो हिन्दुओं के खून पीने पर, उनका नामोनिशान मिटा देने पर तुले बैठे हैं। महात्माजी ने हिन्दुओं से सहायता दिला कर इन्हें मजबूत बना दिया—हिन्दुओं की ही जूतियों से हिन्दुओं का सिर फुड़वाया।" ये उद्गार प्रायः उन्हीं शब्दों में दे रहा हूँ जो समय समय पर भिन्न भिन्न श्रेणी के लोगों से सुन चुका हूँ।

इनको सुनकर मेरी रूह काँप उठती है। यदि मैं मुसल्मान होता तो हिंदुओं के इन उद्गारों और भावों पर पूरी संजीदगी के साथ विचार करता—मेरा खाना पीना हराम हो जाता और मैं

अपनी जाति को हिन्दुओं की नज़र में ऊँचा उठने में अपनी सारी शक्ति लगा देता; पर हिन्दुओं को तो मैं यही कह सकता हूँ, ईश्वर के लिए न्याय करो। कुछ व्यक्तियों के कारण सारी जाति को, कुछ बुराइयों के कारण सारी संस्कृति को, कुछ वचनों के कारण सारे धर्म-ग्रन्थों को गालियाँ न दो। महात्मा और साधु के रस्ते चलना न हिन्दू-धर्म में गुनाह है न हिन्दू-समाज में। यदि हिन्दू-धर्म और संस्कृति के उच्च नियमों का पालन करने से हिन्दुत्व नष्ट होता है तो हिन्दुत्व की आपकी भावना और धारणा में ज़रूर कहीं ग़लती है। बेजा फ़ायदा उठाने का डर कायरों को होता है; वीरों को यह बात शोभा नहीं देती। खिलाफ़त में हिन्दुओं ने जो सहायता दी उसका हद से ज़्यादा ढिंढोरा पीट कर हमने उसके स्वाद, गौरव, शोभा और इसीलिये सुफल को खो दिया है। मुसलमानों की बेइमानी का रोना रोने की अपेक्षा क्या हिन्दुओं में ईमानदारी और सचाई बढ़ाने के लिये कमर कस लेना बुरा है? मुसलमानों के धर्म-ग्रन्थ यदि बुरे हैं, संस्कृति यदि बिगड़ी हुई है तो उसकी चिन्ता वे करेंगे—आपके धर्म-ग्रन्थ और आपकी सभ्यता को उज्ज्वल करने में क्यों न आपकी शक्ति लगनी चाहिए? महात्माजी ने हिन्दुओं को धर्म का, शूर-वीरों का, रास्ता बताया था। हिन्दू ओछे बनिये का रास्ता चाहते हैं। धर्म-वीरों की पूरी क़ीमत देने से इन्कार कर वे सस्ते सेवक बनना चाहते हैं। महात्माजी पर हिन्दुओं को कमजोर बनाने का इल्ज़ाम लगा कर हम अपने धर्म का और संस्कृति का अपमान और हिन्दू-समाज की हानि कर रहे हैं। महात्माजी ने मुसलमानों को ताक़तवर और

हिन्दुओं को कमजोर नहीं बनाया। वास्तव में देखा जाय तो असहयोग आन्दोलन से सारे देश में जागृति, चैतन्य, उत्साह और बल की एक अपूर्व लहर फैली, जिससे भारत के सब जातियों और वर्गों को पोषण और बल मिला। महात्मा जी के आज़ाद रहते हुए उस सम्मिलित बल का उपयोग ब्रिटिश सरकार से लड़ने में हुआ; उनके क़ैद हो जाने के बाद बाहर रहे राजनैतिक नेताओं की अक्षमता और जातीय या साम्प्रदायिक नेताओं की अधीरता, आतुरता और शंकित-चित्तता के कारण वह संगठित बल एक ओर धारा-सभा सम्बन्धी वाग्युद्धों में और दूसरी ओर हिन्दू-मुसलमान झगड़ों में बरबाद होने लगा—जो शक्ति दोनों जातियों और सारे राष्ट्र के प्रतिपक्षी की बुद्धि दुरुस्त करने में लगने के लिये पैदा हुई थी वह योग्य और उचित नेतृत्व के अभाव में आपस की 'यादवी' में काम आने लगी। इस तरह हमने ठीक उसी समय अपनी दूरंदेशी और चतुराई का कम परिचय दिया जब कि हमें उसकी सबसे ज्यादह ज़रूरत थी। यह दर्दनाक कहानी तो एक मात्र व्यथित हृदय के सूखे आँसुओं से ही लिखी जा सकती है।

तिलक महाराज का रास्ता छोड़ा—

मेरे कहने का मतलब यह है कि महात्माजी के जेल जाने के बाद हिन्दुओं ने स्वर्गीय तिलक महाराज का बताया और महात्माजी का प्रशस्त किया हिन्दू-मुस्लिम-एकता का राज-मार्ग छोड़ दिया और मुस्लिमों के आक्रमणों और जातीय हलचलों से अधीर हो कर समझदारी, ठंढई और बड़प्पन से काम लेने के बजाय जोश में आकर उन्हीं का अनुसरण करने लगे। हमें

करना चाहिए था यह कि दंगों के मौक़ों पर हिन्दुओं को शान्त करके कहते, मुसलमानों ने बेशक ग़लती की; लेकिन वे हमारे भाई हैं—हमें और उन्हें एक ही साथ जीना, एक ही साथ मरना है, उनकी ग़लती का जवाब हमें वैसी ही ग़लती करके न देना चाहिए। उनकी ज्यादतियों के लिए ईश्वर उनसे जवाब तलब करेगा। उन्होंने यह हमारे जानोमाल पर नहीं, हमारी बहूबेटियों पर नहीं, हमारे मन्दिरों पर नहीं, अपने ही जानोमाल पर, अपनी ही बहू-बेटियों पर, अपनी ही मसजिदों पर हाथ उठाया है, अपने ही को उन्होंने इस्लाम और दुनियाँ का अपराधी बनाया है। उन्होंने यदि धर्म का रास्ता छोड़ दिया तो हमें यह कदापि उचित नहीं कि हम अपने भी सत्पथ को छोड़ें। ऐसी सद्भाव की बात हमारे मुँह से निकलने के बजाय जोश और कटुता की बातें हमारे मुँह से निकलने लगीं। हम कहने लगे—"देखो, मुसलमानों ने हम पर कैसा ज़ोरो-ज़ुल्म किया! खिलाफ़त में हमने इनकी मदद की, इन्होंने उसका ऐसा बदला चुकाया। हम पहले ही कहते थे हिन्दू-मुस्लिम-एकता होने की नहीं। मुसल्मान कब किसका एहसान मानने लगे थे? इन पर विश्वास करना बेवकूफ़ी है। आओ, हिन्दुओ, तैयार हो जाओ। अपने जान-माल, बहू-बेटियों और धर्म-मन्दिरों की रक्षा में जुट पड़ो। मुसल्मान तुम्हें एक लगावें तो तुम दो लगाने के लिए जब तक तैयार न रहोगे तब तक उनकी तुम्हारी मित्रता नहीं हो सकती। "भय बिनु प्रीति न होत" आदि। हमने उनके उच्च गुणों और शराफ़त को स्पर्श और जाग्रत करना छोड़कर हीन मनोवृत्तियों को उत्तेजित

किया। मुसलमानों ने मुस्लिम जनता के स्वार्थ-भाव और कोमल धार्मिक भावों को बुरी तरह जगा जगा कर उन्हें उभाड़ा, हिन्दुओं ने भी उसके जवाब में बहुत-कुछ उन्हीं का अनुकरण किया। लोकमान्य की लखनऊ वाली प्रौढ़ सलाह और महात्माजी की अप्रतिरोध-नीति दोनों का हमने त्याग कर दिया। अक़्ल की जगह जोश ने ले ली—जोश भी जहाँ काम आना चाहिये था, वहाँ नहीं आया। हमारी फ़ौज ग़नीम को छोड़ कर आपस में ही गोलाबारी करने लगी।

लड़ाई की तैयारियाँ—

मुसल्मान तो ग़लती पर ग़लती करते चले गये। हिन्दुओं को मुसल्मान बनाने का सिल्सिला जारी था ही, इधर और प्रतिनिधि बढ़ाने की आवाज़ भी उठने लगी। पंजाब में मियाँ फ़जली हुसैन ने सरकारी नौकरियों में मुसल्मानों की कुछ तादाद बढ़ा दी। हिन्दू बेचैन होने लगे। कुछ मुसल्मानों ने अमीर काबुल को चिट्ठियाँ भेजीं। बस, अफ़ग़ानिस्तान की हिन्दुस्थान पर चढ़ाइयाँ होने की आवाज़ बुलन्द होने लगी। धीरे धीरे पंजाब का ज़हर सारे हिन्दुस्तान में फैल गया। एक तरफ़ डाक्टर किचलू ने तनजीम का, ख्वाजाहसन निज़ामी ने तबलीग़ का झण्डा उठाया; दूसरी तरफ़ स्वामी श्रद्धानंदजी ने शुद्धि-संगठन का शंख फूँका। मलकानों की शुद्धि ने सारे देश में हलचल मचा दी। इधर श्री जिनाह ने मुस्लिम लीग का नेतृत्व ग्रहण किया; उधर पू० मालवीयजी ने हिन्दू महासभा को पुनर्जीवन दिया। इस तरह एक ओर धर्म के दायरे में और दूसरी ओर राजनीति

के आँगन में दोनों का रण-क्षेत्र तैयार होने लगा। इधर बाजे, आरती और गोवध का प्रश्न उग्र रूप धारण करने लगा, उधर जातिगत प्रतिनिधित्व के नक्क़ारे बजने लगे।

जेल से छूटने पर महात्माजी की कोशिशें—

प्रायः ऐसे ही जातीय जोश, जातीय कटुता, और परस्पर अविश्वास, सन्देह और भय के दूषित वायुमण्डल में महात्माजी जेल से छूटे। उन्होंने अपने लेखों और व्याख्यानों में सैद्धान्तिक चर्चा और व्यावहारिक उपाय द्वारा स्थिति को सुधारने की बहुत कुछ चेष्टायें कीं। बाजे, आरती और गोवध के लिए उन्होंने मुसल्मानों को गोवध बंद कर देने और हिन्दुओं को मस्जिद के सामने बाजा बंद कर देने की सलाह दी। जातीय प्रतिनिधित्व के मामले में उन्होंने राय दी कि हिन्दू हकीम अजमलख़ाँ के हाथों में क़लम दे दें और वे मुसल्मानों की तरफ़ से जो कुछ माँगें; हिन्दू उसे मंजूर कर लें। और अन्त में, कोहाट के भीषण काण्ड के बाद, देहली में, २१ दिन का उपवास भी कर डाला—सब से आख़िरी महा अस्त्र का भी प्रयोग कर देखा जिसका प्रत्यक्ष व्यावहारिक फल हुआ देहली की शान्ति-परिषद्। मगर महात्माजी के इन तमाम उपायों के करते हुए भी आग फैलती ही गई। बस, यहाँ मेरे ख़याल में, एकता-प्रयत्न का अन्त होता है। यों तो राष्ट्रीय महासभा के नेता समय समय पर एकता की आवाज़ उठाते रहे हैं और ऐसे वैसे उपाय भी करते रहे हैं—परन्तु महात्माजी अपनी तरफ़ से इसमें तटस्थ ही रहे।

४—तवलीग़-तनज़ीम और शुद्धि-संगठन

अब इस प्रकरण में हम इस बात पर विचार करेंगे कि हिन्दू-मुसलमानों की इस अलहदा जथावंदी, आपस के विद्वेष, हत्याकाण्ड आदि से देश को और उनको क्या क्या नफ़ा-नुक़सान हुआ तथा तवलीग़-तनज़ीम, शुद्धि-संगठन का मूल और उनका वास्तविक रूप क्या है।

ज़ातीय आन्दोलनों का कुफल—

हिन्दु-मुसलमानों के दंगे, तवलीग़-तनज़ीम और शुद्धि-संगठन के आन्दोलनों का पहला बुरा परिणाम तो यह हुआ कि दोनों के बीच भेद और फूट की खाई गहरी होने लगी। दोनों पक्ष के उदार और राष्ट्रीय विचार के छोटे-बड़े नेता और कार्यकर्ता, एक हद तक तटस्थ रहने के बाद अपनी अपनी जाति के आन्दोलन में शरीक होने लगे। हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों में यह परिवर्तन ज़्यादह हुआ। दूसरा और सब से भारी नुक़सान यह हुआ कि देश का ध्यान स्वराज्य की लड़ाई और राष्ट्रीय महासभा की ओर से हटकर, आपस की लड़ाइयों और जातिगत सभाओं की ओर खिंचने लगा, जिससे सरकार के हाथ मज़बूत होते चले गये—जातिगत प्रतिनिधित्व के प्रश्न ने तो उसे हमारे अन्दर फूट फैलाने और लड़ने के कारणों का खज़ाना खुला कर देने का पूरा पूरा मौक़ा दिया। इधर मुसलमानों के जवाब में कुछ हिंदुओं ने भी

अपने अलहदा प्रतिनिधि भेजने की आवाज़ उठाई, जिसका एक कुफल तो यह हुआ कि हिंदुओं के कुछ फिरक़ों तथा ईसाई-पारसी आदि में भी अपने अलहदा प्रतिनिधि माँगने का भाव उदय होने लगा। सारा देश दलादली, जातिगत प्रश्नों और झगड़ों की बातों से भर गया—स्वराज्य, सरकार से लड़ाई, राष्ट्रीय एकता की बातें, मानों भूतकाल का इतिहास हो गईं। असहयोग आन्दोलन के ज़माने में जो तत्व—सहयोगी और जी हुज़ूर दल—कमज़ोर पड़ गया था, जिसने कि देश के हज़ारों नवयुवकों को जेल में ठूँसने और सताने में सरकार का साथ दिया था, वे जाति-भक्त बन कर देश के सामने आने लगे और हर तरह से असहयोग, स्वराज्य, राष्ट्रीय एकता, सरकार का मुक़ाबला, इन भावों को कमज़ोरी मिलने लगी। इस प्रकार राष्ट्रीय, राजनैतिक और भारत के स्वाधीनता-संग्राम की दृष्टि से देश की अपार, अपरिमित अक्षम्य हानि हुई—जो स्वराज्य नज़दीक आता हुआ दिखाई दिया था, वह आँखों की ओट हो गया। जिस महान् आन्दोलन ने जनता को गहरी नींद से एकाएक जगा दिया था, जिसने लार्ड रीडिंग की अक़्ल को चक्कर में डाल दिया था, वह एक खिल्ली उड़ाने का विषय हो चला था—इससे बढ़कर हानि देश की क्या हो सकती है?

हिन्दुओं को लाभ—

मुसलमानों को तबलीग़—तनज़ीम से क्या लाभ हुआ, सो तो मेरे लिये कहना कठिन है, पर हिन्दुओं को इससे इतना लाभ ज़रूर हुआ कि (१) हिन्दुओं के जुदा जुदा

फिरक़े—सम्प्रदाय—आपस में एक होने लगे, (२) जाति-सुधार, जाति-रक्षा की शक्ति का वे अपने अन्दर अनुभव करने लगे और (३) मुसलमान गुण्डों की ज्यादतियों का मुक़ाबला कलकत्ते आदि में सफलता-पूर्वक होने के कारण, उन्हें यह मालूम हो गया कि हिन्दू अब बकरी की तरह या दबी बिल्ली की तरह हमारे अत्याचारों को न सहलेंगे—वे भी अब हमें उसी तरीक़े से सीधा कर देने पर तुल गये हैं, जो तरीक़ा हमारी समझ में जल्दी आ जाता है।

मगर ऐसा जान पड़ता है कि जब खुल कर हमला करने की उनकी प्रवृत्ति कम पड़ गई—उसके लिये उन्हें मैदान न मिलने लगा, तब उन्होंने अपना तरीक़ा बदल दिया—छिपे छिपे वे हिन्दू आन्दोलनों के नेताओं को—अपनी ग़लत राय में उनकी जड़ों को ही दुनिया से मिटा देने की तजवीज़ करने लगे, जिसका कि अन्त—नहीं, शायद आरंभ पू० स्वामी श्रद्धानन्दजी के खून में हुआ। बहुतों का खयाल है कि यह खून एक बिगड़े दिल की करतूत नहीं है, अनेक बिगड़े दिलों की साजिश का परिणाम है।

कई सवाल—

अब यहाँ कई सवाल खड़े होते हैं। हिन्दू मुस्लिम नेता क्या इन हानि लाभों को पहले से नहीं सोच पाये थे? क्या वे स्वराज्य का और एकता का महत्व नहीं जानते थे या उसको उतना मूल्य नहीं देते हैं? महात्मा जी के जेल जाते ही क्यों सारी लहर और ही तरफ़ बह गई? यदि उस समय बाहर रहे देश और

समाज के नेता महात्माजी के तरीके से सहमत न थे या उन पर अमल करने की शक्ति अपने में महसूस नहीं करते थे तो फिर क्या उन्हें अपनी अक्ल के मुताबिक कोई काम ही नहीं करना चाहिये था ? तबलीगत-तंजीम या शुद्धि-संगठन आखिर क्यों बुरा है ? क्या अपनी जाति और धर्म की रक्षा करना कोई गुनाह है ? क्या अपनी रक्षा के लिये आक्रमणकारियों का मुक़ाबला करना कोई पाप है ? जब कि एक जाति हर भले बुरे उपाय से दूसरी जाति के लोगों को अपने में मिला कर अपनी तादाद बढ़ा रही है तब हमारा अपनी जाति को मज़बूत बनाना, अपनी तादाद न घटने देना या उसे बढ़ाना क्यों अनुचित है ? यदि स्वराज्य के मानी हैं—हिन्दुओं का कमज़ोर होकर रहना, हिन्दुत्व को खोना, तो हमें ऐसा स्वराज्य दरकार नहीं।

उन पर विचार—

ये सवाल बिल्कुल स्वाभाविक हैं और इनका जवाब दिया जाना भी ज़रूरी है। मगर 'हाँ' या 'ना' में इनका जवाब देने के बदले यह ज्यादह अच्छा होगा कि हम उन पर सविस्तर विचार करें। इसमें सब से पहले हमें यह सोचना चाहिए कि अलहदा जत्थाबंदी की यह बुनियाद नये सिरे से क्यों पड़ी ? लखनऊ के समझौते के बाद, महात्माजी के जेल जाने से पहले तक, क्यों मुस्लिम लीग और हिन्दू-महासभा सोती रही और क्यों उनके जेल जाते ही फिर पुरानी कटुता और दुश्मनी ताज़ी हो गई ? क्यों मुसलमान अपनी तादाद बढ़ाने के लिए इतने चिन्तित और

बेचैन हैं ? और क्यों हिन्दू भी इसके लिए इतने परेशान हैं ? फिर हिन्दुस्तान के ही मुसलमानों को इस्लाम की बढ़ती की, अपनी तादाद बढ़ाने की इतनी फ़िक्र क्यों है, भारत के बाहर के मुसलमानों में क्या इस्लाम का प्रेम रहा ही नहीं ? क्यों हिन्दू उनके हरएक काम को सन्देह की नज़र से देखते हैं और मुसलमान हिंदुओं की बातों पर विश्वास नहीं रखते ? क्या दोनों के धर्मों में सचमुच अपनी अपनी संख्या बढ़ाने से बढ़ कर कोई धर्म-सिद्धान्त और धार्मिक आज्ञा नहीं है ? क्या दोनों जातियों और धर्मों में अब कोई और ऐसी बुराई या खामी रही नहीं है जो इसी एक बात पर दोनों इस क़दर मरने-मारने पर तुले हुए हैं ?

जातीय आन्दोलनों का मूल—राजनैतिक—

मैं जहाँ तक विचार करता हूँ इन आंदोलनों और झगड़ों का मूल, धर्म में नहीं, राजनीति में है—इस बुराई की जड़ खुद हमारा स्वराज्य ही है। संख्या बढ़ाने का प्रश्न राजनैतिक दाँव के सिवा कुछ नहीं है। मैं पहले बता चुका हूँ कि भारत का भावी स्वराज्य प्रातिनिधिक अर्थात् बहुमत का शासन होगा और मुसलमानों की तादादा भारत में कम होने के कारण उन्हें यह भय पैदा हो गया है कि भारतीय स्वराज्य में हमें दबकर रहना पड़ेगा। स्वराज्य में अपनी स्थिति को अच्छी और मज़बूत बनाये रखने के लिए उनके पास दो ही साधन हैं—(१) यातो दूसरी जातियों के लोगों को मुसलमान बनाकर अपनी तादाद इतनी बढ़ा लें कि

हिंदुओं के कम से कम बराबर हो होजायँ, जिससे स्वराज्य में हमारे प्रतिनिधि भी, संख्या के अनुसार; हिंदुओं के प्रतिनिधियों के बराबर हो जायँ और हमें उनसे कमज़ोर बनकर न रहना पड़े या (२) आज से ही हिंदुओं से ऐसा ठहराव करालिया जाय कि हमारे प्रतिनिधि; हमारी संख्या कम होते हुए भी, ज्यादह तादाद में रहें। उन्होंने दोनों साधनों से काम लेना शुरू किया। ख्वाजा हसननिज़ामी तो यहाँ तक गिरे कि वेश्याओं के द्वारा, रिश्वत देकर, शादियों का लालच देकर, हर भले और बुरे तरीके को जायज़ मानकर भी—तलवार के घाट उतार कर भी मुसल्मान बनाने का तरीका तो उनके बापदादों से चला आ रहा है—उन्होंने मुसल्मानों की तादाद बढ़ाने की भारी भारी तजवीजें कीं, और काम बढ़ा। यह हुई मज़हब के नाम पर राजनैतिक खेल खेलने की गंदी चाल। इधर उनके राजनीति के खिलाड़ियों ने राष्ट्रीय महासभा और हिंदुओं से तो विशेषाधिकार चाहे ही, इधर एक दल सरकार की बगल में भी घुसकर अपना मतलब साधने की चेष्टा करने लगा।

पारस्परिक भय और महात्माजी का आश्वासन—

हिंदू इस दाँव को समझ गये। मगर उन्होंने या तो इसके गहरे और असली कारणों पर पूरा विचार नहीं किया, या उसकी असली दवा न की। उसकी जड़ काट डालने के बजाय वे भी प्रायः वैसी ही चालें चलकर उनके दाँव को हराने में लग-गये। हमें भूलना न चाहिए कि मुसल्मानों के इस दाँव के मूल

में है, उनका यह भय कि स्वराज्य में हम कमज़ोर रहेंगे। इसका सच्चा और कारगर इलाज यही हो सकता था कि उन्हें यक़ीन कराया जाय कि स्वराज्य में किसी भी छोटी जाति के साथ अन्याय न होगा—उनके हितों का ख़याल बड़ी जातियाँ अपने से ज़्यादह रक्खेंगी। कम से कम उतनाही रक्खेंगी जितना कि ख़ुद अपना रखती हैं या रक्खेंगी। आप देखेंगे कि स्वराज्य के कार्य-क्रम में राष्ट्रीय एकता अथवा सर्व जातीय एकता को महात्माजी ने सबसे बड़ा स्थान दिया है और उसका कारण यही है। उन्होंने हरएक प्रसंग पर सब छोटी जातियों को यह आश्वासन दिया है कि स्वराज्य में तुम्हारे हितों की हानि न हो पावेगी। पारसी और हिन्दुस्तानी ईसाई, हिन्दू या मुसलमान जाति से उतने शंकित नहीं हैं जितने मुसलमान हिन्दुओं से हैं अथवा सिक्ख कुछ समय तक रहे थे। इसका कारण स्पष्ट है। हिन्दुओं और मुसलमानों का तो वैमनस्य सदियों से चला आ रहा था और अब तक मिटा नहीं है। इधर कुछ सिक्ख हिन्दुओं से अपने को पृथक् मानते थे और हिन्दू भी वेदों को न मानने के कारण जैनियों और बौद्धों की तरह ग़लती से उन्हें अहिन्दू मानते थे। हिन्दुस्तान में तीन ही जातियाँ हैं जिनकी राजनैतिक आकांक्षायें बढ़ी हुई हैं, जिनके बड़े बड़े साम्राज्य रहे हैं, जिनकी सत्ता अभी अभी छिनी है—हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख। इसीलिये ये तीनों एक दूसरी से शंकित और चिन्तित रहती हैं। महात्माजी ने स्वराज्य के कार्य-क्रम में सबसे बड़ा ख़याल इसी बात का रक्खा था—ख़िलाफ़त में सह-योग दे कर उन्होंने मुसलमानों को हिन्दुओं की तरफ़ से यह

अमली आश्वासन देना चाहा था कि हिन्दुओं से न डरो—वे तुम्हारे दुश्मन नहीं; भाई हैं। तुम्हारे बुरे को अपना बुरा समझते हैं और सिक्खों तथा पारसियों के मनोभावों का खयाल करके वे एकता की जगह हिन्दू-मुस्लिम सिक्ख, ईसाई-पारसी-एकता इतना लंबा नाम महीनों लिखते रहे थे। सिक्ख तो अब हिन्दू ही माने जाते हैं इसलिये हिन्दुओं और मुसलमानों का प्रश्न बाकी रह गया।

<u>ताकत की आज़माइश का सवाल</u>—

मुसल्मान हिंदुओं से इसलिये डरते हैं कि हिंदुओं की संख्या उनसे बहुत ज्यादह है और आगे स्वराज्य में या आज बृटिश सरकार में भी, प्रतिनिधियों के चुनाव और संख्या पर उनकी जाति की संख्या का असर होता है। इधर हिंदू उनसे इसलिए डरते हैं कि यद्यपि मुसल्मान आज उनसे संख्या में कम हैं तथापि एक तो अपनी तादाद और अपने प्रतिनिधि बढ़ाने में वे सतत उद्योगशील हैं और दूसरे बाहर के मुसल्मानों को मिलाकर उनका बल बहुत हो जाता है। हिंदुस्तान में भी उनकी कई रियासतें हैं और बाहर तो अफ़गानिस्तान, तुर्कस्तान, ईरान, मिश्र जैसे स्वतंत्र राज्य भी हैं। हिंदुओं का तो, कुछ पराधीन रियासतों के अलावा, नेपाल को छोड़कर दुनिया में कोई स्वतंत्र राज्य नहीं है और नैपाल भी वास्तव में उतना स्वतंत्र नहीं है जितना काग़ज़ों में है। अंगरेजों की राजनैतिक दूरंदेशी ने उसे अब तक इस कदर स्वतंत्र रहने दिया है। इसी कारण मुसल्मानों के

मुस्लिम-समस्तता (Pan-Islamism) आन्दोलन के जवाब में हिंदुओं ने भी चीन, जापान, तिब्बत, स्याम के बौद्धों को हिंदू-संगठन में शामिल करने की योजना रक्खी है। इस प्रकार ये दोनों महान् मानव-वंश अपनी अपनी सत्ता और विस्तार की अभिलाषा से, कोई आक्रामक रीति से, तो कोई रक्षात्मक रीति से, अपना अपना संगठन करने में लगी हुई हैं। और भारत में संख्या-वृद्धि के लिए दोनों की लड़ाइयाँ इसी हेतु के प्रत्यक्ष चिह्न हैं। धर्म-संशोधन, धर्म-पालन, धर्म-विस्तार, इसके मूल में नहीं, जाति-विस्तार और जाति-प्रभुत्व है। यह धर्म-प्रचार का, धार्मिक जीवन का प्रश्न नहीं है; यह ताक़त की आजमाइश (trial of strength) का सवाल है।

मत-बल और लाठी-बल—

हाँ, तो मुसलमान हिन्दुओं के संख्या-बल से डर रहे हैं और हिन्दू उनके तलवार-बल से। दुनिया की राजनैतिक गति-विधि का, शासन-व्यवस्थाओं का, दुनिया के राष्ट्रों के बलाबल और प्रवृत्तियों का, जिन्हें काफ़ी ज्ञान है, वे अच्छी तरह समझे हुए हैं कि जहाँ कहीं प्रातिनिधिक शासन-प्रणाली प्रचलित है, वहाँ वह प्रजा के बाहुबल पर नहीं, मत-बल पर चल रही है। यदि हमारी सरकार वास्तव में राष्ट्रीय होती और हमारी फूट और लड़ाइयों में उसका गहरा स्वार्थ न होता तो आज भी मुसलमानों का तलवार, तमंचा-बल ताक में रक्खा रह जाता। न अफ़ग़ानिस्तान, न तुर्किस्तान उसके लिये दौड़ कर आ सकते हैं, न आवेंगे। मतलब यह कि इन दिनों

दुनिया की शासन-प्रणालियों में मत-बल को ही स्थान है, बांहु-बल को नहीं। भारत के स्वराज्य में मत-बल की चलेगी, लाठी-बल की नहीं। हमारा लाठी-बल बाहरी शत्रुओं के मुक़ाबले में भले ही काम आ सके, भीतरी शासन-व्यवस्था में वह किसी काम का नहीं। अतएव मुसल्मानों का बाहुबल यद्यपि आज हिंदुओं को चौंकाता और भयभीत करता है; पर मुसलमानों को वह बेकार मालुम होता है। वह हमारे लिये भयप्रद तभी तक है जब तक हम उसके रहस्य को समझ नहीं लेते हैं और उससे डरते रहते हैं। हम इसे समझें या न समझें, यह निश्चित है कि ज्यों ज्यों दिन जायंगे, ज्यों ज्यों स्वराज्य नज़दीक आता जायगा, अथवा ज्यों ज्यों वर्तमान शासन में प्रजा को अधिकाधिक अधिकार मिलते जायंगे, त्यों त्यों हिन्दुओं का भय कम होता जायगा और मुसल्मानों का बढ़ता जायगा। क्योंकि त्यों त्यों मुसल्मानों का लाठी-बल बेकार होता जायगा और हिन्दुओं का मत बल पुष्ट और कारगर होता जायगा। फलतः हिन्दुओं की चिन्ता और शंका घटती जायगी और मुसल्मानों की बढ़ती जायगी।

लोकमान्य और महात्माजी का मार्ग—

मुसल्मानों की चिन्ता और भय तब तक दूर नहीं हो सकता जब तक या तो वे अपने को पूरा, सब अर्थ में, हिन्दुस्तानी नहीं मान और बना लेते, या जब तक हिन्दू उन्हें उनके हितों की रक्षा का पूरा यक़ीन नहीं दिला देते। पहली बात प्रधानतः मुसल्मानों के अधीन है और दूसरी हिन्दुओं के। मुसल्मानों को

चाहिए कि वे दुनिया की हालत को, रूस को और अपनी स्थिति को देखें, जानें और समझें। उन्हें चाहे बाहरी मुस्लिम शक्तियों का अभिमान हो; पर उन शक्तियों और राष्ट्रों को उनकी तनिक भी परवा नहीं है, इसे वे समझें। अरब के बजाय अब वे हिन्दुस्तान को अपनी मातृभूमि मानें। धर्म-भूमि तो उनकी अरब बनी ही हुई है। हिन्दू उनके इस मनोभाव के सुधार में उनकी तरह तरह से मदद करें। पर यह काम इसके बजाय अधिक समय-साध्य और श्रम-साध्य है कि उन्हें हिन्दुओं की तरफ़ से अभय-का आश्वासन दिलाया जाय। लोकमान्य ने लखनऊ में अधिक प्रतिनिधि देकर मुसल्मानों को यही आश्वासन दिया था; महात्मा जी ने यह कह कर कि हकीम अजमल खाँ के हाथ में कलम दे दो, लोकमान्य की ही आत्मगत बात कही और की थी। मुसल्मानों के अविश्वास को दूर करने का और अपने अंतःकरण की निर्मलता के परिचय देने का इससे अच्छा साधन हिन्दुओं के पास कोई न था।

लोकमान्य ने भूल की—

मगर लखनऊ की बुद्धिमता देहली में 'भूल' के नाम से पुकारी गई; कांग्रेस को हिन्दुओं का शत्रु बताया गया और बेचारी अक्ल पर जोश और गुस्से ने क्या क्या इल्ज़ाम नहीं मढ़े। राज-नीति में लोकमान्य के चेले, दूरंदेशी में उनकी अकल के क़ायल, खड़े हो होकर उन्हें कोसने लगे और उनकी राय में महात्माजी के दिमाग़ में तो अक्ल और दूरंदेशी नाम की और दिल में हिन्दू-

हित या हिन्दू-धर्म के अभिमान नाम की कोई चीज हो नहीं रह गई। वे भोले-भाले, मुसल्मानों के दाँव को न समझने वाले, मुसल्मानों का पक्षपात करने वाले, बताये गये। हकीम अजमल खाँ के हाथ में कलम देने की बात तो मानों हँसी में ही उड़ा दी गई! दक्षिण अफ्रिका में बोअरों और अंगरेजों से लोहा लेने वाले और हिन्दुस्तान में दो ही साल में तहलका मचा देने वाले बेअक्ल और कायर गाँधी की सलाह, आपस में ही दुलत्तियाँ झाड़ने वाले—गुलामी की बेड़ियों में कसे हुए, अपने ग़नीम से लड़ना छोड़कर, जरूरी रण-क्षेत्र से भागकर, छोटे छोटे स्वार्थों के लिए महान् लाभ को ठुकरा देने वाले, इन समझदारों और सूरमाओं की नज़रों में क्यों जँचने लगी? वे सोचते तो, कि महात्मा जी ने हकीम साहब के ही हाथ में कलम क्यों दी, ख्वाजा हसन निज़ामी के हाथ में क्यों नहीं दे दी? वे जानते थे कि हकीम अजमल खाँ चाहे अपनी कौम को ठीक राह पर कायम रखने वाले समर्थ पथ-दर्शक न साबित हुए हों, पर अक्लमन्दी, दूरंदेशी और सब से ज्यादह हिन्दुओं के किये एहसानों के प्रति कृतज्ञता का दिवाला उन्होंने नहीं निकाल दिया है और वे आँखें मूंद कर, बिना हिन्दू नेताओं की सलाह लिये, या उनके मनोभावों का काफी खयाल किये, मुसल्मानों के लिए सारा राज न माँग लेंगे और हिन्दुओं को राह का भिखारी न बना देंगे। खैर—

धर्म और जाति—

हाँ, तो मेरा कहना यह है कि शान्ति और गंभीरता के साथ मुसल्मानों के भय की जड़ को काटने के बदले, हम ने जोश और

गुस्से में आकर उसका ऐसा इलाज करना शुरू किया जिससे मर्ज़ दिन दिन बढ़ता ही चला गया। हमारे शुद्धि और संगठन उनके दिल के दर्द की ठण्ढी और सच्ची दवा न हुई। तबलीग़ तनजीम और शुद्धि-संगठन का वर्तमान भाव और रूप, धर्म से कोसों दूर है, न वह धर्म-भाव से प्रेरित ही है। धर्म का अर्थ है, धर्म के उच्च सिद्धान्त जैसे धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, पवित्रता, इन्द्रिय-निग्रह, सत्य, अक्रोध आदि। जो लोग इन नियमों का पालन या पालन करने का प्रयत्न करते हैं वे धार्मिक कहलाते हैं। जब उनकी संख्या ज्यादह हो जाती है, तब वह एक जाति बन जाती है। हिन्दू-जाति हिन्दू-धर्म के उच्च सिद्धान्तों के पालन का दावा करती है। इसलिए वह हिन्दू-धर्म की अनुयायिनी कहलाती है—इसीलिए उसका नाम हिन्दू है। उसी तरह मुस्लिम-जाति भी इसीलिए मुस्लिम कहलाती है कि वह इस्लाम के अनुगमन का दावा रखती है। हर जाति ने अपने अपने मज़हब के सूचक कुछ चिह्न बना लिये हैं जैसे शिखा, दाढ़ी, आदि और उन जातियों के धर्म-नेताओं ने उनका धार्मिक अर्थ भी बना रक्खा है। कोई जाति तभी तक अपने नाम का सच्चा दावा कर सकती है जब तक वह उस धर्म के सिद्धान्तों और नियमों का पालन करती है। हिन्दू-जाति का महत्व इसी बात में है कि वह हिन्दू-धर्म की प्रतिनिधि समझी जाती है। यही बात हर जाति पर घटित होती है। कोई जाति अपने धर्म-सिद्धान्त से च्युत या विमुख होकर अपने को उस धर्म की प्रतिनिधि नहीं कह सकती। यदि कोई हिन्दू न ईश्वर को माने, न सत्य की परवा करे, न सदाचारी हो; पर लंबी चोटी

रखता हो, दस दफ़ा नहाता हो, वेद-मंत्र सस्वर बोलता हो, तो क्या वह सच्चा हिन्दू है ? इसी तरह क्या वह मुसलमान भी सच्चा मुस्लिम है जो न एक खुदा को मानता हो, न हर मुसलमान के साथ भाई का सा बरताव करता हो, न सचाई और ईमानदारी का पाबंद हो, पर जो लंबी दाढ़ी रखता हो, पाँच बार नमाज़ पढ़ता हो, हाथ में टेढ़ा मेढ़ा डण्डा लिए गली गली इस्लाम और पैगम्बर साहब की दुहाई देता फिरता हो ? नहीं। कहने की ग़रज़ यह कि धर्म के दो भाग होते हैं—(१) धर्म-तत्व, धर्म-सिद्धान्त और (२) उनको अमल में लाने के तरीक़े या व्यवहार-शास्त्र अथवा धर्म-शास्त्र। धर्म-शासन धर्म-तत्व की पाबंदी के लिए बनाये गये हैं। धर्म-शास्त्र धर्म-तत्व तक पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ बनाता और बताता है। अतएव सीढ़ियों को मकान समझ लेना जिस तरह भूल और ख़तरनाक है, उसी तरह, दाढ़ी-चोटी, कोरा स्नान—ध्यान, बाजा आरती, आदि को धर्म का मूल स्वरूप या मुख्य अंग मान लेना भी भारी ग़लती है और भयावह है। 'न लिंगं धर्म-कारणम्'। इसी तरह धर्म-तत्वों के पालन की ओर, उनके ज्ञान का प्रचार करने की ओर ध्यान न देकर, उनके नाम पर दाढ़ी—चोटी रखवालेने वालों की अंधाधुन्ध संख्या बढ़ाने की कल्पना करना धर्म से कोसों दूर है। अज्ञ या अल्पज्ञ लोग धर्म का नाम सुनते ही पागल हो उठते हैं, इसलिए उन्हें एक धर्म के दायरे से हटाकर दूसरे धर्म में लाने के लिए फुसलाना, या धर्म के नाम पर उन्हें लड़ा मारना, धर्म के साथ भयंकर खिलवाड़ करना है।

शुद्धि-तबलीग़ का अर्थ और स्वरूप—

शुद्धि के मानी हैं, शुद्ध होने की क्रिया। शुद्ध वही होना चाहता है जो अशुद्ध हुआ हो, पतित हुआ हो, जिसने कोई बुरा काम किया हो, जिसके लिए उसे पश्चाताप हुआ हो, जो उस बुराई से छूट जाना चाहता हो और फिर उसमें न पड़ना चाहता हो। अर्थात् शुद्धि का भाव किसी के मन की, हृदय की चीज़ हुई। दूसरा आदमी उसको उसकी बुराई बता सकता है, समझा सकता है, उसके अन्दर पश्चाताप का भाव पैदा कर सकता है, और उसके पैदा हो जाने पर शुद्धि की विधि तथा आगे न बिगड़ने का रास्ता बता सकता है। यह दूसरा आदमी स्वयं बहुत शुद्ध, ज्ञानी और समर्थ होना चाहिए। यह तो हुआ शुद्धि का तात्विक रूप। आजकल शुद्धि का व्यावहारिक रूप हो गया है—एक धर्म की सीमा में गये आदमी को दूसरे धर्म के क्षेत्र में लाते समय की गई बाहरी विधि या संस्कार। मुसलमान इसीको तबलीग़ कहते हैं। इस शुद्धि और तबलीग़ के मूल में एक तो यह कल्पना गृहीत है कि हमारा धर्म अच्छा है, दूसरे का धर्म बुरा है, दूसरे यह भाव वर्तमान है कि किसी तरह हमारी जाति की संख्या बढ़े, वह विस्तृत और मज़बूत हो। पहली बात धर्म से संबंध रखती है, दूसरी राजनैतिक या महत्वाकांक्षा या स्पर्द्धा या प्रतीकार से।

मेरा धर्म अच्छा, तेरा बुरा—

'हमारा धर्म अच्छा है, दूसरे का बुरा है' यह भावना किसी के स्वाभिमान की सूचक या पोषक भले ही हो, धर्म का वह कोई

खास अंग नहीं है। यह 'धारणा' तो मनुष्य की इस योग्यता, अनुभव और विश्वास को सूचित करती है कि उसने सब धर्मों को टटोल और परख देखा और उसे इसी धर्म में सच्ची सुख-शान्ति मिली। या तो मनुष्य स्वानुभव से यह घोषणा कर सकता है या दूसरों के वचनों पर विश्वास रख के कहता है। अपने धर्म को अच्छा और दूसरे को बुरा कहने वाले अधिकांश लोग अक्सर दूसरी श्रेणी के हुआ करते हैं।

दूसरे को अपने मज़हब में क्यों लाना चाहते हैं ?

दुनियाँ में कई धर्म हैं। वे क्या हैं ? क्यों हैं ? यदि ईश्वर एक है, और धर्म उस तक पहुँचने का मार्ग है, तो उसके रास्ते इतने जुदे क्यों हैं, और यदि जुदे हैं तो उन पर चलने वालों को खुद ईश्वर तक पहुँचने की अधिक चिन्ता और वेचैनी होने के बजाय दूसरों को अपने रास्ते ले जाने की इतनी छटपटाहट क्यों है ? इसके अंदर दूसरे के ग़लत या टेढ़े रास्ते से और उसकी तकलीफ़ों से किसी को बचा कर अपने अच्छे और सरल रास्ते से ईश्वर तक पहुँचाने की सज्जनोचित स्वाभाविक उपकार-भावना प्रधान है या किसी तरह अपने गोल को बड़ा और मज़बूत बना-कर राह का आनंद और ऐश्वर्य्य भोगने की महत्वाकांक्षा है, यह विचारने योग्य है। यदि उपकार-भावना है तो फिर इसमें आतुरता, अधीरता, रोस, कटुता, प्रतिहिंसा और मरने मारने की की तैयारी क्यों ? यदि ऐश्वर्य की महत्वाकांक्षा है, तो धर्म की ओट में क्यों ?

धर्म क्या है ?

प्राणिमात्र का धर्म एक है—विविधताओं से एकता की ओर जाना—एकता में उनकी हल-चल का पर्यवसान होना। मनुष्य-मात्र का धर्म एक है—अपने जीवन-लक्ष्य को पहुँचना। मनुष्य का लक्ष्य क्या है—तमाम बंधनों, तमाम दुःखों, तमाम बुराइयों, तमाम कमजोरियों से सदा के लिए छूट जाना, इसी को हिंदू-धर्म में मोक्ष कहा है। व्यवहार की सरल भाषा में इसे हम यों कह सकते हैं—धर्म पूर्ण स्वतंत्रता की सड़क है; धर्म ऐहिक सुख और पारमार्थिक सुख का राजमार्ग है; धर्म नीचे गिरे हुओं को ऊपर उठाने की सीढ़ी है; धर्म प्राणिमात्र के हित का साधन है। इसी को दूसरी भाषा में लोग कहते हैं—धर्म ईश्वर तक पहुँचने का रास्ता है, धर्म सत्य के पहचानने का साधन है, धर्म आत्मसाक्षात्कार का उपाय है। और दूसरे शब्दों में कहें तो धर्म उन नियमों के समूह को कहते हैं, जिनका पालन कर मनुष्य अपने शरीर, मन और आत्मा का पूर्ण विकास कर सकता है, स्वयं अपने को तथा दूसरों को सुखी बना सकता है। अपने इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए धर्म मनुष्य को आज्ञा देता है कि तुम इन इन गुणों को, शक्तियों को प्राप्त करो और इन इन दोषों और बुराइयों को छोड़ो। जब धर्म मनुष्य की लक्ष्य-संबंधी बातों और भावों को स्थिर करता है, तब उन्हें धर्मतत्व या धर्म-सिद्धान्त कहते हैं; जब धर्म यह बताने लगता है कि अपने लक्ष्य तक तुम इस तरह इन इन बातों को करते और इन इन बातों को छोड़ते हुए पहुँच सकोगे, तब उसे धर्म-शास्त्र कहते हैं। धर्म-तत्व अटल है, त्रिकालाबाधित

है; धर्म-शास्त्र परिस्थिति के अनुसार बदलता रहता है—परिवर्तनशील है।

ईश्वर एक है—

हिंदू मुसलमान, ईसाई, यहूदी, आस्तिक, नास्तिक सब प्रकार के पंथ और वर्ग के लोगों को ध्यान में रख कर उनके सर्व-सामान्य, सर्व-सम्मत लक्ष्य को इस भाषा में व्यक्त कर सकते हैं—मनुष्य का लक्ष्य है—सत्य को अनुभव करना, सत्य को पाना, सत्य पर आरूढ़ रहना, सत्यमय हो जाना। जो सत्य है वही ईश्वर हो सकता है और ईश्वर के सिवा सत्य कुछ हई नहीं। जिसे तत्व-ज्ञानी सत्य के नाम से पुकारता है; अध्यात्म-शास्त्री आत्मा के नाम से पहचानता है; भक्त ईश्वर के नाम से बुलाता है; नास्तिक प्रकृति या शक्ति के नाम से जिसकी घोषणा करता है, हिन्दुओं ने जिसे परमेश्वर कहा है, ब्रह्म कहा है, अँग्रेजों ने जिसे गॉड समझा है; मुसलमान जिसे अल्लाह के नाम से पुकारते हैं, वह वही सत्तत्व, महत्तत्व है जिसका अनुभव प्रत्येक विचारशील और भक्त सृष्टि की सारी विविधता, विचित्रता और विरोध-प्रचुरता में करता है। भक्त अपनी भावुक रसमयी वाणी में उसे चाहे जैसा सुंदर काव्य मय रूप दें; पर वह चीज़ वही है जिसे भिन्न भिन्न लोग अपनी योग्यता, रुचि, अनुभव और ज्ञान के अनुसार जान कर, भिन्न भिन्न नामों से उसका परिचय कराते हैं। जिन जिन महापुरुषों ने उसे पहचाना है; उस तक जाने का मार्ग जिन्होंने लोगों के सामने रख दिया है तथा जो कहते हैं कि भाई, यही वहाँ तक जाने का

रास्ता है, वे भिन्न भिन्न धर्म-मतों के प्रवर्तक या सुधारक हुए हैं। मुहम्मद, ईसा-मसीह, बुद्ध, महावीर, शंकराचर्य, नानक, दयानन्द आदि इसी कोटि में आते हैं। इनके बताये तरीकों से चलने का दावा रखने वाले अपने को उनका अनुयायी मानते हैं।

धर्मपंन्थ और उनमें साम्य—

इस विवेचन से हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि भिन्न भिन्न धर्म-मत एक ही परम सत्य या तत्व तक पहुँचने के भिन्न भिन्न मार्ग हैं और इसीलिए उनका दूसरा नाम हिन्दुओं के यहाँ पड़ गया है—पन्थ। वर्तमान शुद्धि और तबलीग़ आन्दोलनों का सम्बन्ध इन्हीं धर्म-पन्थों से है। एक पन्थवाला अपने पन्थ को अच्छा समझता है और चाहता है कि दूसरा भी इसी रास्ते चले। इस शुद्ध इच्छा पर कोई कैसे ऐतराज़ कर सकता है? जब वह यह कहता है कि मेरा ही पंथ अच्छा है, दूसरे का बुरा है और चाहता है तथा ज़ोरों से कोशिश करता है कि दूसरे पंथों के लोग अपने पंथों को छोड़ कर हमारे पंथ में आजावें, तब मनुष्य के सर्व-सामान्य धर्म की आत्मा को आघात पहुँचता है। यदि हम मौजूदा धर्म-पन्थों के मनुष्य के लक्ष्य तथा उसकी पूर्ति के अनिवार्य साधन से संबंध रखने वाले सिद्धान्तों और विचारों को देखें तो हमें उनमें प्रायः साम्य दिखाई देता है। सत्य दया, परोपकार, पवित्रता, शान्ति, नम्रता, इन गुणों या नियमों की महत्ता से किस धर्मपन्थ ने इनकार किया है—किसने इनकी आवश्यकता का प्रतिपादन नहीं किया है? यदि किसी ने इनमें

से अथवा धर्म-नियमों में से किसी एक पर कम या ज्यादह ज़ोर दिया है तो यह उसकी विशिष्ट परिस्थिति के कारण से हुआ है— यह धर्म के ऊँचे तत्वों का विषय नहीं, धर्म-शास्त्र का—धर्म को अमल में लाने के तरीक़े का विषय है और इसे धर्म के प्राण-रूप नियमों की उच्चता नहीं दी जा सकती। वर्तमान सब धर्म-पन्थ इतनी बातों में प्रायः एक मत हैं—(१)सत्य या ईश्वर है(२) मनुष्य पवित्र हुए बिना उस तक नहीं पहुँच सकता; (३) सदाचार पवित्रता का सब से बड़ा साधन है। ये तीन सिद्धान्त सबको मान्य हैं। अब इस बात में आगे चलकर भले ही मत-भेद हो कि सदाचार में किन किन बातों का कहाँ तक समावेश होता है–धर्म-संकट या कर्तव्या-कर्तव्य का प्रश्न उपस्थित होने पर कौन धर्माचार्य या धर्म-शास्त्री किस बात को किस हद तक जायज़ या नाजायज़ समझता है। व्यावहारिक रूप में यह प्रश्न नीति-शास्त्र या समाज-शास्त्र का हो जाता है। और जो धर्म-प्रवर्तक या धर्माचार्य जितना ही अधिक सत्य को, परमतत्व को, उज्ज्वल और संपूर्ण रूप में देखता होगा, और मनुष्य-समाज को उसकी प्रतीति करा देने के लिए जितना ही अधिक उत्सुक होगा, जितना ही अधिक उसे मनुष्य-समाज की नैतिक स्थिति और मनोभूमिका का परिज्ञान होगा, जितना ही अधिक उसका प्रभाव मनुष्य-समाज पर होगा, उतनी ही अधिक ऊँची कल्पना वह उसके सामने रक्खेगा और उतना ही अधिक ज़ोर वह उस पर देगा। अस्तु !

सच्चा धार्मिक क्या करेगा ?

कहने का मतलब यह है कि, जब कि मौजूदा धर्म-पंथों के

उच्च नियम प्रायः एक से हैं और उनके अमल की तफ़सीली वातों में अगर मत-भेद है तो फिर इतने ही पर दूसरे धर्म को 'बुरा' कहना कहाँ तक धर्म-संगत है। एक धार्मिक पुरुप तो यही कह सकता है—'भाई, सब धर्म-पन्थ एक ही ईश्वर तक—मनुष्य के अन्तिम लक्ष्य तक, पहुँचाते हैं। हमें उचित है, ज़रूरत केवल इसी वात की है कि हम उसके सच्चे, ऊँचे रूप को समझें और सचाई के साथ उसका पालन करें—हम अपने तईं, दुनिया के तईं और ईश्वर के तईं सच्चे वनकर ज़िन्दगी वसर करें।' ज्यादह से ज्यादह वह इतना और कह सकता है—'लेकिन भाई, मेरा रास्ता उससे भी अच्छा और आसान है। तुम्हारे धर्म में यदि इतनी खूबी और आ जाती, जो मेरे में है, तो क्या वहार होती?' आगे चलकर यदि वह इतना और भी कह दे कि 'इसलिए तुम मेरे ही रास्ते क्यों नहीं चलते?' या आग्रह करे कि 'चलो।' तो तत्वतः उसे कोई वेजा नहीं कह सकता; पर भावतः उसकी धार्मिकता में कमी ज़रूर पैदा हो जाती है। सच्चा धार्मिक दूसरे धर्म-मतों को, जो कि मूलतः बुरे नहीं हैं, मिटाने, गिराने या वदनाम करने की कोशिश न करेगा; वल्कि उन्हें सुधारने और अपने मत की कोटि में ला देने की चेष्टा करेगा। वह अच्छाई को खोजेगा, जहाँ कहीं मिल जायगी, उसकी क़द्र करेगा, औरों को उसकी ओर प्रेरित करेगा और यदि कहीं बुराई दीख पड़ी तो उसे फैलाने के वजाय उसे दूर करने की कोशिश करेगा। उसका हृदय प्रेम, सहानुभूति और सेवा के भाव से भरा होगा। सहिष्णुता उसके जीवन का धर्म होगा। सहिष्णुता का अर्थ ही यह है

कि हम दूसरे को भी उतनी ही आज़ादी देते हैं जितनी कि हम उससे लेना चाहते हैं। धार्मिक जीवन की शुरूवात ही सहिष्णुता से होती है। जो मनुष्य धमकी, जब्र, या अनीति-पूर्ण गंदे तरीकों से दूसरों को धमका, बहका या फुसलाकर अपने धर्म-मत में मिलाता है, जो शास्त्र या ग्रन्थ ऐसा करने की इजाज़त देता है या उसे बरदाश्त करता है, वह मनुष्य-धर्म के अज्ञान या उन्माद में धर्म की हत्या करता है, वह शास्त्र या ग्रन्थ 'धर्म' विशेषण से विभूषित होने के योग्य नहीं है—यदि किसी परिस्थिति में, किसी कारण से कुछ नाजायज़ बातों को भी किसी ने बरदाश्त कर लिया या जायज़ मान लिया तो अब उसमें संशोधन की भारी आवश्यकता है। उसका संशोधन न करना, अपने धर्म-मत की जड़ को हिलाने का अवसर देना है।

धार्मिक शुद्धि क्या है?

छानबीन हमें इस परिणाम पर पहुँचाती है कि जब कि मूलतः अच्छे धर्म-पन्थ को 'बुरा' कहना ही आक्षेप-योग्य है; तब उसकी बुनियाद पर दूसरे को अपने मत में मिलाना कहाँ तक धर्मानुमोदित हो सकता है? फिर किसी धर्म-मत में रहना उस अर्थ में बुरा या पाप तो हुई नहीं, जिस अर्थ में कि नीति या सदाचार से पतित होना है। शुद्धि तो पतित और पापी की ही हो सकती है। शुद्धि तब भी हो सकती है जब मनुष्य खुद ही किसी धर्म-मत में रहना पाप समझने लगा हो। पर उस धर्म-मत के मूल सिद्धान्त में यदि कोई ऐसी बुराई नहीं है तो कहना होगा

कि उस शुद्धि चाहने वाले को अपने असली धर्म का यथार्थ ज्ञान नहीं है। अतएव शुद्धि करने वाले का पहला कर्तव्य यह है कि वह पहले उसे अपने असली धर्म का ज्ञान करावे। इसी वात को यदि मैं इस भाषा में पेश करूँ—कि एक मुसलमान को अथवा हिन्दू को चाहिए कि किसी की शुद्धि करने के पहले यह देख ले कि उसे अपने असली धर्म का यथार्थ ज्ञान है वा नहीं और वह उसमें रहना पाप या बुरा क्यों समझता है, और यदि उसे पूरा ज्ञान नहीं है, या भ्रम है तो उसे दूर कर दे—और फिर उसकी शुद्धि करे—तो पाठक तुरन्त जान लेंगे कि किसी की शुद्धि कितनी मुश्किल है; और सच्ची शुद्धि और वर्तमान शुद्धि तबलीग़ में कितना आकाश-पाताल का अन्तर है। वह यह भी देख लेगा कि धर्मान्तर या उसके लिए किये गये शुद्धि-संस्कार का संबंध धर्म और धार्मिकता से उतना नहीं है जितना समाज और सामाजिक सुविधा-असुविधा से है। वर्तमान शुद्धि तबलीग़ एक सामाजिक या राजनैतिक आन्दोलन है। धर्म की बुनियाद पर वह ठहर नहीं सकता। इसीलिए धार्मिक दृष्टि से वह सदोष है और धार्मिक मनुष्य उसके इस दोष को सहज पहचान सकता है। शुद्ध धार्मिक दृष्टि से तो मनुष्य को अपने अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए न तो किसी धर्म-मत की चिट अपने ललाट पर लगाने की जरूरत है और न, यदि वह पहले से किसी मत को अपना चुका है, तो उसे बदलने की ही जरूरत है, बशर्ते कि वह अपने लक्ष्य तक पहुँचने की शर्तों का ईमानदारी से पालन करता हो।

कोई धर्मान्तर क्यों करता है ?

फिर धर्मान्तर करना एक बात है; धर्मान्तर कराना दूसरी बात है; समझ के साथ धर्मान्तर करना एक बात है; लालच से करना दूसरी बात है; समझा-बुझाकर धर्मान्तर कराना एक बात है; फुसलाकर, धमकी देकर या बल-पूर्वक धर्मान्तर कराना और ही चीज़ है। भला, कोई आदमी धर्मान्तर क्यों करता है ? सब धर्मों का लक्ष्य तो एक ही है, उनके मुख्य सिद्धान्तों में भी प्रायः साम्य है। फिर क्या वजह है कि कोई एक पन्थ को छोड़ कर दूसरे में जाना चाहेगा ? सिर्फ़ एक ही कारण हो सकता है। यदि उस धर्म के सिद्धान्तों के पालन का तरीक़ा उस समाज में इतना बिगड़ा हुआ हो कि वह उसमें रहकर उनका पालन न कर सकता हो, या उनका पालन करते हुए उसे अज़हद तकलीफ़ों का सामना करना पड़ता हो, जिन्हें बरदाश्त करने के लिए वह तैयार न हो, न वह उसमें सुधार करने में ही सफल मनोरथ हो पाता हो, तो वह अपनी आत्मा की भूख बुझाने के लिए उस धर्म, पन्थ, या समाज की शरण में जाता है जहाँ उसे शान्ति और आराम के साथ उनके पालन करने की सुविधा मिल जाती है। जिनमें अपने धर्म की बिगड़ी व्यवहार-पद्धति को सुधारने की शक्ति होती है जो उससे मिलने वाले कष्टों को सहने या उनका मुक़ाबला करने का सामर्थ्य रखते हैं वे तो ईसामसीह, सुकरात, दयानंद, मीरा, महावीर, बुद्ध, प्रह्लाद होते हैं, पर जो अपने अंदर इतनी शक्ति का अनुभव नहीं करते, उनके लिए धर्मान्तर के सिवा गुज़र नहीं। पर यह धर्मान्तर एक तो स्वेच्छापूर्वक

खुशी खुशी होता है और दूसरे वह उस पन्थ के मूल सिद्धान्तों के कारण नहीं, बल्कि उनके व्यवहार की प्रणाली के कारण होता है। दूसरी भाषा में इसे यों कह सकते हैं कि वह धर्मान्तर नहीं, समाजान्तर होता है। यदि उसके पन्थ का धर्म-शास्त्र या समाज-व्यवहार बदल जाय तो फिर शायद वह अपने समाज को छोड़ना न भी चाहे। इसीलिए मैं कहता हूँ कि धर्मान्तर या शुद्धि का संबंध धर्म से नहीं; वह सामाजिक बात है और आजकल वह राजनैतिक चीज़ हो गई है। हाँ, सामाजिक या राजनैतिक सुविधा-असुविधा के ख़याल से शुद्धि और धर्मान्तर का महत्व और स्थान समझ में आ सकता है।

धर्म के नाम पर शुद्धि तबलीग़ से हानियाँ—

यदि वर्तमान शुद्धि-तबलीग़-आन्दोलनों का सामाजिक और राजनैतिक ही हेतु है तो फिर यह सर्वथा उचित है कि जनता के सामने वह धर्म के रूप में पेश न किया जाय। धर्म के नाम पर धर्मान्तर अथवा शुद्धि-तबलीग के प्रचार करने के भयंकर दुष्परिणाम होते हैं, और हुए हैं।

दुनियाँ के बड़े बड़े धर्म-युद्ध इसी भ्रम या नीति के कृतज्ञ हैं। इस्लाम की यह प्रवृत्ति कि गर्दन मार कर भी मुसल्मान बनाओ, इसी ग़लती का ढिंढोरा पीट रही है। अशोक ने इसी तरह के धर्म-प्रचार या धर्मांतर के भ्रम में कलिन्द में अगणित जन-संहार किया। इसी अज्ञान के कारण वेश्याओं के द्वारा, रिश्वतें दे दे कर, तथा औरतों को उड़ा उड़ा कर भी इस्लाम का प्रचार करने की सलाह देते हुए

ख्वाजा हसन निजामी के रोंगटे खड़े न हुए—धर्म और राजनीति की इसी भूल-भुलैयाँ के बदौलत, दोनों की ठीक मर्यादा न जानने के कारण, अखबारों के संवाददाता शुद्धि-तबलीग़ और दंगों के समाचार सत्यासत्य की परवा किये बिना, उनके भीषण परिणामों का ख़याल किये बिना भेजते हैं और सम्पादक अपने जोश में भड़कीली टिप्पणियाँ लिख मारते हैं, इसी के कारण मुक़दमों में झूठी गवाहियाँ देना, झूठे मुक़दमे बनाना, नमाज़, बाजे, आरती, या पेड़ कटने जैसी नकुछ बातों को धार्मिक अधिकार का रूप देना और उनके लिए बड़े बड़े हुल्लड़ खड़े कर देना—इन भयंकर बातों में किसी को. धर्म या नीति या बुद्धि के विरुद्ध कोई बात ही नहीं दिखाई देती। इसी के कारण टुट पूंजिये उपदेशक और कार्य-कर्त्ता सड़ी सड़ी बातों को धर्म का विशाल और पवित्र रूप देकर जनता के धार्मिक भावों का अपने मतलब के लिए खूब दुरुपयोग करते हैं। इससे जनता को भी धोखा होता है, उनके धर्म-संबंधी घोर अज्ञान में धर्मान्धता का नया भूत संचार कर जाता है, जिससे अन्ततोगत्वा धर्म का गला घुटने लगता है; दूसरे धर्म वालों की दृष्टि में हमारे धर्म की बहुत ही निकृष्ट, घृणित और मलिन मूर्ति आती रहती है जो कि एक जाति या मनुष्य-समाज की हैसियत से हमें उनकी नजर से गिरा देती है। इसका बहुत बुरा असर हमारे सामाजिक, नैतिक और राजनैतिक जीवन की प्रगति पर होता है। यदि हम धार्मिक या सामाजिक और राजनैतिक प्रश्नों को उनके स्पष्ट रूप में और स्पष्ट शब्दों में लोगों के सन्मुख रक्खें तो उन्हें यह ठीक ठीक

दिखाई पडता रहेगा कि किस हद तक, किस बात को, कितना महत्व दें। उनके विचार सुलझे हुए और साफ़ रहेंगे तो इससे हमारे धर्म और समाज दोनों की अच्छी सेवा भी होगी और हम: अनेक हानियों से बच जायँगे।

धर्मान्तर की राजनैतिक आवश्यकतायें हैं ?

सामाजिक या राजनैतिक दृष्टि से जब शुद्धि और तबलीग़ की आवश्यकता पर विचार करने लगते हैं, तो पहला प्रश्न यह उपस्थित होता है कि मुसल्मानों या हिन्दुओं की वे सामाजिक या राजनैतिक आवश्यकतायें क्या हैं जिनके लिए इतने बड़े पैमाने पर धर्मान्तर—नहीं, इसे समाजान्तर या जाति-परिवर्तन कहना चाहिए—शुद्धि-आन्दोलन खड़ा करना चाहिए? यदि भारत में कुछ ऐसी जातियाँ या लोग हैं, जो न पूरे हिन्दू-समाज के अन्तर्गत हैं, न पूरे मुसल्मान-समाज के; और इस कारण इन्हें सामाजिक असुविधायें हैं, तो या तो यह प्रश्न दोनों जातियों के मुखिया मिलाकर उनकी राय से तय कर लें, या उन्हीं के निर्णय पर छोड दें। यदि प्रश्न उनकी सुविधा का है तो हिन्दू-मुसल्मानों को उनके धर्मान्तर या शुद्धि के लिए इतने ज़बरदस्त आन्दोलनों की क्या जरूरत? यदि प्रश्न हिन्दुओं या मुसल्मानों की संख्या, या बल का है तो आख़िर मुसल्मान या हिन्दू चाहते क्या हैं? यदि दोनों में से किसी की, या दोनों की यह अभिलाषा हो कि हिन्दुस्तान में दो में से एक ही जाति रहेगी—एक दूसरी को बल-पूर्वक हड़प जायगी, तो ऐसे ख़याल रखने वाले

पागलखानों में भेज देने के लायक़ हैं। हिन्दुओं और मुसल्मानों की राजनैतिक आकांक्षायें न तो हिन्दू-राज या हिन्दू-शक्ति हो सकती है, न मुस्लिम-राज या मुस्लिम-शक्ति हो सकती है। यह सवाल या तो तब खड़ा हो सकता था, जब दोनों अपने बला-बल को आज़माने और खुल्लमखुल्ला दो दो हाथ करने के लिए आज़ाद थे, या शायद तब हो सके, जब फिर वे उसी तरह आज़ाद हो जायँ। आज तो दोनों की पृथक् पृथक्, और सम्मिलित, एक ही राजनैतिक आकांक्षा या आवश्यकता हो सकती है—स्वराज्य। और स्वराज्य के लिए दोनों का अपनी अलहदा अलहदा संख्या और बल बढ़ाना—अलग जत्थेबंदी और फिरक़ा बंदी करना सोभी ऐसी जिससे आयेदिन दोनों में हाथा-पाही होती हो, न केवल अनावश्यक है, बल्कि महा हानिकर है, यह हम इन दो तीन वर्षों के इतिहास से, स्वराज्य को दूर हटाकर, अच्छी तरह देख ही रहे हैं।

हिन्दू जाति रसातल को जा रही है—

किन्तु इस पर कहा जाता है—'हिन्दू-जाति तो रसातल को जा रही है, दिन दिन घट रही है, मुसल्मान अपना काम दिन दिन करते जा रहे हैं और आप हम पर धर्म-कर्म की सूक्ष्म और आदर्श-रूप बातों का लेक्चर झाड़ते है। आपको पड़ी है अपने आदर्शों की, हमें पड़ी है अपनी ज़िंदगी की! मैं इस जाति-चिन्ता की क़द्र करता हूँ; पर मेरी समझ में नहीं आता कि केवल संख्या घटने से कोई जाति कैसे रसातल को जा सकती है और संख्या

बढ़ने से कैसे ऊँची उठ सकती है। संख्या गुण पर अवलंबित रहती है। हिन्दू-जाति में जो आज २२ करोड़ लोग हैं, उनके पूर्वज हिन्दू-धर्म के सच्चे प्रतिनिधि, ऋषि-मुनियों और आदर्श-राजाओं के पवित्र आचरण और गुण-बल से आकर्षित हुए, और उन्हीं के तपोबल से आज भी हमें अपने शिखा-सूत्र का अभिमान है। इस्लाम में या ईसाई-धर्म में यदि ऊँचे और पवित्र सिद्धान्त न होते और यदि मुसल्मानों में पहुँचे हुए सन्त-फ़कीर न हुए होते तो कोरे तलवार-बल पर न आज इतने मुसल्मान दुनियाँ में दिखाई पड़ते और न क़ायम रहते। फ़र्ज़ कीजिए कि भारत के सभी मुसल्मानों और ईसाइयों ने हिन्दू-धर्म ग्रहण कर लिया और हिन्दू-जाति में आ गये, पर वे तथा उनके संग से अन्य हिन्दू हिन्दू-धर्म के उच्च सिद्धान्तों का पालन छोड़कर, केवल शिखा-सूत्र धारण भर के लिए अपने को हिन्दू कहलाने लगे तो, क्या यह हिन्दू-जाति की, हिन्दुत्व की, हिन्दू-धर्म की उन्नति हुई? हिन्दू-जाति और हिन्दुत्व आख़िर है क्या? हिन्दू-धर्म में से यदि 'सर्वात्मभाव' 'सर्वभूतहित' 'अहिंसा परमो धर्मः' 'नास्ति सत्यात्परो धर्मः' ये तत्व और भाव निकाल दिये जायँ तो फिर हिन्दू-धर्म और क्या रह जायगा? हिन्दुत्व में से यदि इन आदर्शों और उनके आचारों को अलग कर दिया जाय तो फिर हिन्दुत्व और क्या रह गया! हिन्दू-जाति में से यदि इन तत्वों, भावों और आदर्शों के कायल और पालन करने वाले अलहदा कर दिये जायँ तो फिर हिन्दू-जाति में क्या हिन्दू-पन रह गया? हिन्दू-जीवन का मूल्य हिन्दू आदर्शों के

कारण है। उसकी अवहेलना या उपेक्षा कर के हम कैसे हिन्दू-जाति को जीवित रख सकेंगे? यदि हम अपने आदर्श और सिद्धान्त के पक्के रहेंगे, रहने की आवश्यकता का प्रचार करेंगे, लोगों को उसके लिए तैयार करेंगे तो न मुसल्मान और न ईसाई हमारी संख्या को कम कर सकेंगे। यदि हम मौजूदा हिन्दुओं को अपने धर्म में दृढ़ रहने की शिक्षा और सुविधा न देंगे और केवल धर्मान्तर के द्वारा दूसरों को ही अपने में मिलाने का यत्न करते रहेंगे तो न घर के रहेंगे न घाट के। सामाजिक-सुधार और धर्माचरण द्वारा हमें अपने घर को पहले साफ़ और मजबूत बनाना चाहिए।

क्या प्रतिकार भी न करें?

इस पर यह पूछा जाता है कि हिन्दुओं के सब तरह खामोश रहने और ग़म खाने पर भी यदि मुसलमान उपद्रव और अत्याचार करना न छोड़ें, हिन्दू स्त्रियों पर ज़ब्र करें, मन्दिरों को भ्रष्ट करें तो फिर भी क्या हिन्दुओं को माला हाथ में लेकर बैठे रहना चाहिए? इस पर मैं कहूँगा, यदि हिन्दू अपनी तरफ़ से चिढ़ाने या उत्तेजना देने का कोई मौक़ा न दें, और फिर मुसलमान ज्यादती करें तो समाज की हैसियत से हिन्दुओं का यह कर्तव्य है कि वे सब तरह अपनी, अपने आश्रितों की, अपने देव-मन्दिरों की रक्षा करें। यदि वे शान्ति के उपायों से रक्षा न कर सकें—और देखते हैं कि आज वे शान्ति-शस्त्रों को हाथ में लेने की शक्ति अपने अंदर नहीं पाते हैं—तो प्रहार करके भी रक्षा करना

उनका धर्म है। शान्ति या अहिंसा का अर्थ डर कर भाग जाना, या दब छिपकर बैठ जाना नहीं है। हाँ, शस्त्र-मार्ग से शान्ति-मार्ग जरूर ऊँचा है और शस्त्र-मार्ग का अवलंबन हमें तभी करना चाहिए, जब उसके लिए मजबूर हो जायँ। डर और कायरता से बढ़ कर मनुष्य का शत्रु कोई नहीं।

हिन्दुत्व और स्वराज्य —

अब रहा यह प्रश्न कि हम हिन्दुत्व खोकर, कमजोर बनकर स्वराज्य नहीं चाहते। वेशक, कोई हिन्दू ऐसा न चाहेगा। मगर स्वराज्य और हिन्दुत्व परस्पर विरोधी हुई नहीं। हिन्दुत्व का अर्थ है हिन्दू-संस्कृति या हिन्दुओं के गुण विशेष। हिन्दू-संस्कृति सात्विक है। मनुष्योचित सब सद्गुणों का समावेश उसमें होता है। यथा तेज, धृति, क्षमा, दया, विनय, परोपकार, संयम, आदि। हिन्दू अपनी रक्षा करते हुए अपनी अच्छाई को बढ़ाते हुए जीना चाहते हैं; दूसरों को सता कर, दूसरों को बिगाड़ कर नहीं; यही उसकी सात्विकता और इसलिए उच्चता है। क्या स्वराज्य हमारी इस सात्विकता और उच्चता का विरोधी है ?

रही कमजोर बनने या दबने की बात। भला, कमजोर बनना, दबना और स्वराज्य ये बातें एक साथ कैसे रह सकती हैं ? आप से यह नहीं कहा जाता है कि दबो या कमजोर बनो। बल्कि यह कहा जाता है कि अपने बड़प्पन को, उच्चता को, सात्विकता को

न छोड़ो। सात्विकता कमज़ोरी नहीं, वड़प्पन दव्बूपन नहीं। हाँ, जहालत और जड़ता ज़रूर कमज़ोरी है। परशुराम के मुक़ावले में राम ने क्या कमज़ोरी का परिचय दिया और लक्ष्मण ने राम से ज्यादह सफलता प्राप्त की? क्षमा, कमज़ोरों का नहीं, वीरों का भूषण है।

पर यदि अधिकांश हिन्दू अपने अन्दर इतनी सात्विकता, इतनी उच्चता अनुभव न करते हों तो? वे अपने को कमज़ोर और कमज़ोर वनते हुए समझते हों तो? तो मेरी राय में एक तो यह उनका भ्रम है। वे सिंह हैं, शूर-वीर हैं, वलवान हैं; इनके सव गुण उनके अन्दर हैं—सिर्फ कसर इसी वात की है कि वे अपने को भूल गये हैं जैसा कि वह सिंह का वच्चा अपने को भेड़ ही समझ वैठा था। हमें सिर्फ अपने वल का भान हो जाने की ज़रूरत है। वल का भान होगा वल की याद दिलाने से—पर हमें तो आज कमज़ोरी की याद दिलाई जा रही है। हमारी यह सदोष मनोवृत्ति भी हमें अपने को 'कमज़ोर' मान लेने में कम-कारणी-भूत नहीं है? वताइए, हिन्दू मुसल्मानों से किस वात में कम हैं? धन में, जन में, वाहुवल में वुद्धि में, सदाचार में? सिर्फ एक वात में कम हैं, जहालत में, हुल्लड़पन में? क्या यह मुसल्मानों की ताक़त और हिन्दुओं की कमज़ोरी है? फिर यदि यह कहा जाय कि स्वराज्य के लिए तुम दोनों आपस में मेल कर लो और हिन्दुओं से कहा जाय कि तुम मुसल्मानों की तरह नादान न वनो, जाहिल न वनो, तो क्या यह कमज़ोरी की सलाह है?

दंगों से मुसलमानों का नुक़सान—

मैं मानता हूँ कि इसमें मुसलमानों का भाग आक्रामक और हिन्दुओं का रक्षात्मक है। परन्तु मुसलमानों के पास उनका कारण—उनका वह भय है जिसका ज़िक्र मैं ऊपर कर चुका हूँ। और उस पर हम हिन्दुओं को सहानुभूति और भ्रातृभाव के साथ विचार करना चाहिए। हाँ, यह बात ठीक है कि मुसलमानों को भी हिन्दुओं से वह भय न रखना चाहिए। यह भय उनके दिल की कमज़ोरी है, जिससे उन्हीं का नुकसान है। इस भय के वशीभूत होकर उन्होंने अपनी संख्या बढ़ाने के जोश में अथवा हिन्दुओं को भयभीत करने के लिए, जो मार-काट आदि अत्याचारों का अवलंबन किया, उससे अब तक मुसल्मानों की ही हानि हुई है—हिन्दुओं की नहीं। हिन्दू तो उल्टे ज्यादह सजग और मज़बूत हो गए हैं और स्वामी श्रद्धानन्द जी का खून उन्हें और प्रबल बना देगा। हिन्दू, मुसलमानों से, न धन-बल में कम हैं, न बुद्धि-बल में, न संख्या-बल में, न बाहु-बल में। उनकी खामोशी, उदारता, बड़प्पन और सहिष्णुता को उनकी बुज़दिली और दब्बूपन समझने की ग़लती करके मुसलमानों ने जो ज्यादतियाँ उन पर कीं, उनसे मुसलमानों की ही अब तक हानि ज्यादह हुई है। उनकी जाति और संस्कृति के प्रति हिन्दुओं की सहानुभूति कम ही हुई है और यह कम नुकसान नहीं है। धन-जन की हानि इसके मुक़ाबले में कुछ नहीं है। मनुष्य धन-जन को स्वाहा करके भी अपने धर्म, संस्कृति और समाज की सुकीर्ति की रक्षा करता है। वही मुसलमान हिन्दुओं की दृष्टि में खो रहे हैं। और सब बलों

में उनसे बढ़े-चढ़े हिन्दू यदि उनकी तरह मुसलमानों को दबाने पर तुल गये; तो न मुसलमानों के खंजर-तमंचे, न अफ़ग़ानिस्तान या तुर्क़िस्तान के मुसलमान उनकी मदद कर सकेंगे।

संगठन-तनज़ीम पर विचार—

यहाँ तक हमने इन बातों पर विचार किया कि तबलीग़ और शुद्धि का मूल और वर्तमान रूप तथा असलियत क्या है। अब हम संगठन के प्रश्न पर विचार करें। संगठन का अर्थ है— बिखरे हुए समाज को एकत्र करना। एकत्रता या एकता एक प्रकार का बल है, जिसका उपयोग समाज को सुधारने, आगे बढ़ाने, उसकी रक्षा करने आदि में सफलतापूर्वक किया जा सकता है। शुद्धि का मसला जैसे धार्मिक रूप में हमारे सामने आता है, वैसे संगठन का, तनज़ीम का नहीं। संगठन शुद्ध सामाजिक विषय है और उसी रूप में वह हमारे सामने उपस्थित भी किया गया है। तबलीग़-शुद्धि की तो कल्पना ही भयंकर है; तनज़ीम-संगठन का वर्तमान रूप और उपयोग मात्र मुझे कुछ सदोष दिखाई देता है। संगठन मूलतः अच्छी चीज़ होते हुए भी मुसलमानों ने इसका इस्तैमाल तबलीग़ को पुष्ट करने के लिए किया; और हिन्दुओं ने भी, उसके जवाब में ऐसा ही किया। इसी का फल है—तबलीग़ और शुद्धि के संगठित आन्दोलन, और संगठित लड़ाइयाँ। अपने अपने समाज की बुराइयों को सुधारने, नीति और धर्म के रास्ते अपनी अपनी जातियों को आगे बढ़ाने, का उद्योग करने के

बजाय संगठन और तबलीग़ एक दूसरे का मुक़ाबला करने लगे। अपने क्षेत्र से बाहर जा कर वे राजनैतिक बातों में भी दख़ल देने लगे और ऐसा मालूम होता है, मानों वे भी राजनैतिक दाँव-पेंच के शिकार बना दिये गये हैं। मैं ऊपर बता ही चुका हूँ कि हिन्दुओं और मुसलमानों का—नहीं सारे भारत-वासियों का राजनैतिक भाग्य और भविष्य एक ही है—वह अलहदा नहीं हो सकता; फिर सामाजिक संगठनों का राजनैतिक उपयोग क्यों होना चाहिए ? क्यों मुस्लिम-लीग और हिन्दू-महासभा पृथक् और जातीय प्रतिनिधित्व के या चुनाव के झगड़ों में दिलचस्पी लें ? क्यों हिन्दू महासभा विधवाओं, अनाथों, अछूतों के मामलों में केवल प्रस्ताव पास करके या वे मन से थोड़ा बहुत काम कर के ख़ामोश बैठी रहे—उनके लिए धन-जन की सहायता से वह इनकार करे और हिन्दू-मुसल्मानों के दंगों, शुद्धि संबंधी झगड़ों के मुक़दमों में उसकी थैलियाँ खुलें, उसके कार्यकर्ता और सहायक पहुँचें ? क्यों हिन्दुओं का, हिन्दू-महासभा वादियों का रुपया चुनाव के झगड़ों में पानी की तरह बहे और सामाजिक सुधार या धर्म-संशोधन और धर्म-प्रचार में उनका वह जोश नहीं देखा जाता ? मतलब यह कि यदि दो दोषों से संगठन और तनज़ीम बचाये जाँय तो फिर वे उतने आपत्ति योग्य न रह जाँयगे—एक तो यह कि राजनैतिक बातों में वे दख़ल न दें और दूसरे, किसी जाति-विशेष से मुक़ाबला करने के हेतु से वे न किए जायँ। समाज-सुधार और धर्म-प्रचार ही उनका एक मात्र हेतु हो, इसी भाव से वे किये जायँ। सब जातियों के

संगठन राष्ट्रीय महासभा, के अपने से संबंध रखने वाले कामों में तथा आवश्यकतानुसार एक दूसरे को भी सहायता पहुँचावें।

बुद्धि कहती है—बुरा हुआ, श्रद्धा कहती है—अच्छा होगा—

तबलीग़-तनज़ीम, शुद्धि-संगठन, महात्माजी के जेल जाने के बाद की पैदायश है। मुस्लिम-लीग और हिन्दू-महासभा को भी उनके बाद ही नये सिरे से जीवन मिला है। इसका क्या कारण है? इन जातीय आन्दोलनों या संस्थाओं के नेता, महात्माजी के असहयोग-कार्य-क्रम, उनकी अहिंसा-नीति, आदि से सर्वांश में सहमत न थे; और जब महात्माजी ने उनके विरोध करने पर भी अपना रास्ता न छोड़ा, तब उनका असन्तुष्ट होना स्वाभाविक था। खिलाफ़त में महात्माजी का हिन्दुओं से सहयोग दिलाना, कितने ही हिन्दू-नेताओं को अच्छा न लगा। उन्हें डर था कि इससे मुसल्मानों का ज़ोर बहुत बढ़ जायगा और वे हिन्दुओं को कुचल डालेंगे। दुर्भाग्य से महात्माजी के कुछ तो सामने ही, कुछ जेल जाने के बाद, कुछ मुसल्मानों की तरफ़ से ऐसी ज्यादतियाँ हो भी गईं जिनसे हिन्दुओं का संशय और बढ़ गया। इधर महात्माजी उनको कब्ज़े में रखने के लिए बाहर थे नहीं। दोनों जातियों के प्राय: सब राष्ट्रीय नेता, जिनका उस समय अपनी अपनी जातियों पर काफ़ी प्रभाव था, जेलों में बंद थे। ऐसी हालत में जो जातिगत-भाव और स्वार्थ रखने वाले छोटे-बड़े नेता और कार्य-कर्त्ता थे, उन्हें अपने ही विचारों, संस्कारों तथा धारणाओं के अनुसार उसका उपाय सूझ सकता था। मेरी

बुद्धि जहाँ तक सोचती है, यह हुआ तो बुरा, पर यही हो सकता था। ईश्वर को यही मंज़ूर था। मालूम होता है, ईश्वर को अधिक स्थायी एकता मंज़ूर है। स्वराज्य के पहले यदि दिलों में गुब्बार भरा रह कर एकता सध जाती तो शायद स्वराज्य के बाद उसका और बुरा फल भोगना पड़ता। अपने को कमज़ोर और एक दूसरे का भय रखने वाली जातियों का यह संघर्ष, ईश्वर की ऐसी योजना मालूम होती है कि दोनों का दिल साफ़ करके सम्मान-पूर्वक दोनों को एक-दूसरे के गले मिलावे। यह हुई श्रद्धा की बात। बुद्धि तो अब भी यही कहती है, दिल तो अब भी यही बोलता है कि लोकमान्य और महात्माजी का रास्ता छोड़ कर हिन्दू-मुसल्मान दोनों ने ग़लती की; और एक ने ग़लती की इसलिए दूसरे का वैसी ही ग़लती करना ठीक नहीं माना जा सकता। श्रद्धा बुद्धि से बड़ी होती है। बुद्धि की गति मर्यादित है; श्रद्धा सर्व-व्यापिनी होती है। बुद्धि मानवी चीज़ है, श्रद्धा दैवी। मुझे इसमें कोई शक नहीं कि आज बुद्धि के सच होते हुए भी वह हारेगी और श्रद्धा की विजय होगी। मैं उस विजय के दिन के लिए लालायित हूँ। मेरे हाथ भक्ति-पूर्वक विजय-माला लिए श्रद्धा के गले में डालने को उठे हुए हैं। वह दिन शीघ्र आवे, जब ये आँखें राष्ट्रीय एकता को सत्य वस्तु देखें और स्वराज्य की प्रत्यक्ष स्थिति।

५—फूट का मूल और एकता का स्वरूप

हृदय-भेद की मीमांसा—

हिन्दू और मुसलमानों का यह वैमनस्य या विरोध आजकल की नई चीज़ नहीं—इसकी जड़ बड़ी गहरी है—ठेठ वहाँ तक पहुँचती है जहाँ से हिन्दू-मुसल्मानों का इतिहास ही शुरू होता है। मौजूदा फूट चाहे हमारे भावी स्वराज्य की कल्पना के कारण पड़ी हो—पर इस फूट के अन्दर भी जो दोनों जातियों के दिल में एक दूसरे का भय, सन्देह और अविश्वास जम सा गया है, उसका कारण और ही है, और वह गहरा है। मुसल्मान हिन्दुस्तान में आक्रमणकारी और धर्म-प्रचारक बन कर आये। एक ओर उन्होंने अपना राज यहाँ जमाया और दूसरी ओर बल और हिंसापूर्वक हज़ारों हिन्दुओं को मुसलमान बनाया। आक्रमणकारी और धर्म-प्रचारक दोनों हैसियतों से उन्होंने हिन्दुस्तान में हाहाकार मचा दिया था। हिन्दुओं को ऐसे भीषण और क्रूर प्रचार का अनुभव शायद पहले न हुआ हो। हिन्दुओं ने अपने शक्ति भर दोनों बातों में उनका विरोध और प्रतिकार तो किया; पर इस्लाम या मुस्लिम-संस्कृति की छाप उनके दिल पर अच्छी न पड़ी। धर्म के मामलों में उनके तलवार का न्याय और नीति-सदाचार के संबंध में उनकी हीन कल्पनायें तथा ऐसे ही व्यवहार ने उन्हें, एक मनुष्य-समाज की हैसियत से, हिन्दुओं की दृष्टि में

गिरा दिया। एक ओर राजनैतिक दृष्टि से और दूसरी ओर धार्मिक दृष्टि से वे उन्हें अपने धर्म, जाति और देश का शत्रु मानने लगे। उनकी अमर्याद हिंसा-प्रवृति और हीन नीति-भावों तथा गो-वध और गोभक्षण ने हिन्दुओं के दिल में घृणा; उनके राजनैतिक छल-कपट ने अविश्वास और बढ़ते हुए राज्य-प्रभुत्व ने आतंक पैदा कर दिया। मुसल्मान बड़े आक्रामक धर्मप्रचारक थे। वे काफ़िर की सूरत देखना बरदाश्त नहीं कर सकते थे, इस्लाम में आये बिना वे किसी की गति-मुक्ति ही न मानते थे। इस्लाम-बाहर व्यक्ति को ईश्वर-विमुख समझ कर उसका वध करना, वे ईश्वर-सेवा समझते थे। सारे मुसलमान उनकी नज़र में भाई थे। वे एक थाली में खाना खाते, एक लोटे से पानी पीते। हिन्दू, धर्म के लिए किसी की हत्या करना आवश्यक नहीं मानते थे। उनके यहाँ अनेक मत-मतान्तर थे। एक दूसरे के खान-पान में बड़ा विचार रक्खा जाता था। बात-बात में तलवार खींच लेना उनकी आदत में दाखिल न था। इस विरोध को देख कर मुसल्मानों ने हिन्दुओं को तलवार में अपने से कमज़ोर या समाज-व्यवहार में अपने से गिरा हुआ माना हो, और इस कारण वे भी उन्हें गिरी नज़र से देखते हों तो ताज्जुब नहीं। राजनीति में विजय और धर्म में विस्तार करने को तो वे यहाँ आये ही थे। मेरी राय में इस राजनैतिक शत्रुता और सांस्कृतिक अथवा धार्मिक भिन्नता या विरोध के कारण शुरू से ही दोनों जातियों के दिलों में गाँठ पड़ गई। राजनैतिक अविश्वास और सामाजिक घृणा ने दोनों को एक दूसरे के निकट न आने दिया। यही दोनों के वैमनस्य का मूल

है। हिन्दुओं के दिलों से मुसलमानों के अत्याचारों की स्मृति नहीं जाती। हिन्दुस्तान से राज्य चले जाने पर, अब भी, मुसलमान अपने को हाकिमों की जाति, विजेताओं की जाति मानते हैं और हिन्दुओं को विजित जाति मान कर नफ़रत की निगाह से देखते हैं। जैसे जैसे मुसलमान यहाँ जमते और बसते गये और दिन बीतते गये, तैसे तैसे राजनैतिक शत्रुता कहीं कहीं पड़ोसी राज्यों की मित्रता और कहीं उदासीनता का रूप धारण करने लगी और कहीं पूर्ववत् बनी रही। सांस्कृतिक घृणा भी ऊँचे दरजे के लोगों में ही ज्यादह रह गई—जनता को स्मृति तो रही, सामाजिक व्यवहार में भेद-भाव तो रहा—पर दुश्मनी या नफ़रत का भाव प्रायः निकल सा गया। अंगरेजी राज के बाद, उनकी फूट डाल कर राज करने की नीति तथा नेताओं की राजनैतिक महत्वाकांक्षाओं के कारण, शत्रुता और घृणा की बुझती हुई चिनगारियों ने फिर अविश्वास, संशय और भय का रूप धारण कर लिया जिसका अन्त हुआ वर्तमान फूट और कटुता में।

सांस्कृतिक भेदाभेद—

इस तरह विचार करने पर मालूम होता है कि हमारी फूट का कारण केवल राजनैतिक ही नहीं, सांस्कृतिक भी है। यदि केवल राजनैतिक होता तो पिछले ज़माने में तथा अब भी एकता कभी की हो गई होती; तथा काम चलाऊ एकता होती रहती और दोनों अपने सामान्य राजनैतिक जीवन में एक रास्ते चलते हुए नज़र आते।

यहाँ हमें यह विचार करना होगा कि दोनों में धार्मिक या सांस्कृतिक साम्य—वैषम्य—क्या है तथा दोनों की एकता का अर्थ और स्वरूप क्या है।

धर्म और धर्म-पन्थ क्या हैं, यह हम पहले देख चुके हैं। जिसको इस्लाम और हिन्दू-धर्म कहते हैं वे भिन्न भिन्न पन्थ हैं। यह बात दूसरी है कि दोनों के उच्च और मूल सिद्धान्त प्रायः समान हों; पर ऐसे समान तत्वों का नाम इस्लाम और हिन्दू-धर्म नहीं, बल्कि उनके अलावा कुछ और बातें भी दोनों में ऐसी हैं जो दोनों को एक-दूसरे से जुदा करती हैं। वे या तो नियम-विशेष हो सकते हैं, या तत्व-विशेष। पर कम-ज्यादह ज़ोर हो सकता है या उनके अमल के तरीक़े हो सकते हैं। हिन्दू-धर्म और इस्लाम दोनों मानते हैं कि ईश्वर है—फिर कोई उसे अल्लाह या खुदा कहता हो और कोई परमेश्वर, आत्मा, पुरुष, ब्रह्म, कर्म, या शक्ति कहता हो—दोनों मानते हैं कि ईश्वर-विमुख का कल्याण नहीं, दोनों मानते हैं कि पवित्रता ईश्वर के नज़दीक जाने का साधन है; दोनों मानते हैं कि सद्गुणों को बढ़ाना और दुर्गुणों का कम करना या नीति और सदाचारमय जीवन बिताना पवित्र बनने का तरीका है; दोनों मानते हैं कि सचाई, ईमानदारी, दूसरे की भलाई, भलमन्सी आदि गुण इन्सानियत के लिए ज़रूरी हैं, दोनों मानते हैं कि चोरी करना गुनाह है, दूसरे की बहू-बेटियों को बुरी नज़र से देखना पाप है, भूठ बोलना, दग़ा करना बुरा है; कृतज्ञता पुण्य है, कृतघ्नता पाप है, यह भी दोनों मानते हैं; प्रिय भाषण अच्छी चीज़ है; गाली देना बुरी बात है यह भी

दोनों को मंजूर है। अब बताइए कि धर्म और नीति की ऐसी कौनसी बात रह गई जिसमें दोनों का विरोध पड़ता है; और सो भी इतना कि दोनों एक हज़ार वर्ष से एक दूसरे से इतना जुदे और दूर रहते आये हैं? वह भेद धर्म के मूलतत्वों में उच्च स्वरूप में या साधारण नीति-नियमों में नहीं है, वल्कि धर्म-शास्त्र में समाज-व्यवहार मेंया संस्कृति में है। हिन्दू और मुसलमानों में लड़ाइयाँ इस बात पर नहीं होती कि तुम ईश्वर को अल्लाह क्यों कहते हो या तुम पुनर्जन्म को क्यों नहीं मानते हो, या तुम्हारे यहाँ क़यामत के दिन ही सब का फ़ैसला एक साथ कैसे होगा, या तुम श्राद्ध और तर्पण क्यों नहीं करते, या तुम भी पाँच दफ़ा सन्ध्या क्यों नहीं करते या दाढ़ी कटा कर चोटी क्यों नहीं रखा लेते? ये तो दो घड़ी मनोरंजन के, वाद-विवाद या शास्त्रार्थ के विषय भले ही हो जायें, पर इनके लिए मारकाट और लूट-मार नहीं हो सकती। इसका कारण यह है कि दोनों की संस्कृतियों में, व्यवहार-शास्त्र में, जातीय स्वभाव में कुछ अन्तर है। वह क्या है?

संस्कृति क्या चीज़ है?

पहले हम यह जान लें कि संस्कृति या जातीय स्वभाव क्या वस्तु है। इससे पहले हमने देखा है कि धर्म-पंथ मनुष्य के लक्ष्य तक पहुँचने की सड़कें हैं। अपना गोल बना कर इस सड़क पर चलते हुए मनुष्य-समाज जिन संस्कारों को पाता है—जिन विचारों, भावों, गुण, दोषों या कार्यों का असर उसके जीवन पर होता

है और उससे जो उसका एक ख़ास स्वभाव या ख़ासियत बन जाती है उसीका नाम है संस्कृति या जाति-स्वभाव । दूसरे शब्दों में यों कहें कि किसी समाज या जाति की भली बुरी आदतों या ख़ासियतों के योग या समुच्चय का नाम है संस्कृति। संस्कृति जाति या समाज—विशेष के धार्मिक और सामाजिक आदर्श, नेताओं के उपदेश और गुण-धर्म, तथा सामाजिक और राजनैतिक परिस्थिति के अनुसार बनती है, और बदलती रहती है। जो संस्कृति समाज को जितना ही अधिक, जितना ही जल्दी, उन्नति की तरफ़ ले जाती है, अच्छाई की ओर खींचती है उतनी ही वह अच्छी मानी जाती है। उसकी सब से अच्छी कसौटी यह है कि जो संस्कृति मनुष्य के उच्च गुणों को बढ़ाती है, पाप से हटा कर पुण्य की ओर ले जाती है, वह श्रेष्ठ संस्कृति है। दूसरी भाषा में यों कहें कि जो संस्कृति नीति और सदाचार के उच्च नियमों का पालन कराती है, जो मनुष्य को तेजस्वी, नम्र दयावान्, सत्य, भक्त, सच्चरित्र, परोपकार शील, उदार, क्षमाशील और शूरवीर बनाती है, वह श्रेष्ठ संस्कृति है। और दूसरी तरह से कहें तो जो संस्कृति मनुष्य को हिंसा की ओर से हटा कर अहिंसा की ओर, असत्य से हटाकर सत्य की ओर, स्वच्छंदता से हटाकर संयम की ओर और भय से हटा कर निर्भयता की ओर और कायरता से हटाकर शूरवीरता की ओर लेजाती है, वह श्रेष्ठ है।

स्वभाव-भिन्नता—

आइए, अब हम हिन्दुओं और मुसल्मानों की संस्कृतियों का या जातीय स्वभावों की समता और विषमता का विचार करें।

एक औसत दर्जे के हिन्दू और मुसलमान का नमूना अपने सामने रखिए। मुसलमान आपको तेज़ तर्रार, ज़बां दराज़, मरने-मारने को तैयार, जाहिल, जुनूनी, बेख़ौफ, अपनी क़ौम और मज़हब का फ़ख़्र रखने वाला, जोशीला, भलाई-बुराई का गहरा विचार न करने वाला, स्त्री-पुरुष संबंधी नीति-नियमों की कम परवा करने वाला, कम रहम रखने वाला, एहसान मानने वाला, फ़र्मांबर्दार, वफ़ादार और दिलेर मालूम होगा। एक हिन्दू आपको पाप भीरु, शान्त, ढीला, महत्वाकांक्षा-हीन, दयावान्, नम्र, परोपकारशील, सहिष्णु, क्षमाशील और सज्जन दिखाई देगा। आप देखेंगे कि दोनों में कुछ अच्छे गुण, अनुपयोग या दुरुपयोग से, दुर्गुणवत् हो गये हैं और कुछ दुर्गुण गुण के रूप में स्वीकृत हो गये हैं। और यही दोनों की संस्कृति या स्वभाव का अन्तर है। मुसल्मान को यह सिखाया जाता है कि "हमारा ही मज़हब दुनियाँ में सब से अच्छा है, यही एक ईश्वर तक पहुँचने का सब से बेहतर रास्ता है, जो खुदा को नहीं मानता वह काफ़िर है, खुदा का रास्ता वही है जो हज़रत मुहम्मद ने बताया है, इसलिए जो इस्लाम के अंदर नहीं आया है वह काफ़िर हैं, काफ़िर खुदा का मुन्किर—ईश्वर विमुख—होता है, इसलिए मार डालने के लायक है—जो एक भी काफ़िर को दीने इस्लाम में लाता है वह खुदा की मेहर हासिल करता है—जिस तरह हो सके इस्लाम को बढ़ाओ।" इसी उपदेश में मुस्लिम-संस्कृति और मुसल्मानों के स्वभाव में पाई जाने वाली अमर्याद हिंसा-वृत्ति, असहिष्णुता और जहालत का बीज है। इसके विपरीत हिन्दू को

यह उपदेश मिलता है—"दूसरा बुरा करता हो तो करने दो, वह आप नतीजा पावेगा। तुम अच्छे बने रहो। राह चलते झगड़ा मोल न लो। सब में एक ही आत्मा है। सब को अपने समान समझो। ईश्वर सब का एक है। सब धर्म उसीके पास जाते हैं। अपने धर्म को छोड़कर दूसरे के धर्म में पड़ना बुरा है" आदि। इसमें है उनकी सज्जनता का मूल। मुसल्मान क्यों उग्र हैं और हिन्दू क्यों शान्त हैं, एक क्यों आक्रामक है और दूसरा क्यों रक्षा-शील है, यह भी इससे भली भाँति जाना जा सकता है। मुसल्मानों का यह उग्र हिंसक स्वभाव चाहे तत्कालीन अरब की परिस्थिति के कारण बना हो, चाहे पैग़म्बर साहब के कुछ उपदेशों का दुरुपयोग करने के कारण बना हो—अब के सभ्य समाज में वह है आक्षेप-योग्य और अक्षम्य। इधर हिन्दुओं का ढीलापन चाहे भारत की सुखेच्छा वर्द्धक परिस्थिति का परिणाम हो, चाहे धर्म के यथार्थ स्वरूप को न समझने का फल हो, वह है निन्दनीय और उसके दूर होने की परम आवश्यकता है।

संक्षेप में कहें तो एक की अति-उग्रता और दूसरे का अति-ढीलापन दोनों के स्वभाव का स्पष्ट अन्तर है और मुस्लिम संस्कृति की हिंसा वृत्ति तथा हिन्दू स्वभाव की अकर्मण्यता दोनों में भारी सुधार की आवश्यकता है। यदि मुसल्मान कुछ शान्त और हिन्दू ज़रा तेज़ तर्रार हो जायें—यदि मुसल्मानों में कुछ सात्विकता आ जाय और हिन्दुओं का कुछ रजोगुण बढ़ जाय तो दोनों एक दूसरे के नज़दीक जल्दी आ जायंगे। मुसल्मानों की हिंसा और

हिन्दुओं की जड़ता दोनों तमोगुण के नमूने हैं, यदि इस्लाम की हिंसकता शुद्ध वीरता के—क्षात्रतेज के—कमजोरों और सताये गयों की रक्षा करने में अपने बल-वीर्य का उपयोग करने की भावना के रूप में परिणत हो जाय; यदि हिन्दुओं की जड़ता को कर्मण्यता का रूप प्राप्त हो जाय तो दोनों का पारस्परिक भय, अविश्वास, संशय, वैमनस्य सब मिट जाय।

मुस्लिम संस्कृति पर महात्माजी का प्रभाव—

यदि हम महात्माजी के बनाये स्वराज्य-कार्य क्रम पर, उसमें दिये गये हिन्दू-मुस्लिम एकता की शर्त पर, खिलाफत में दिये उनके तथा दिलाये हिन्दुओं के सहयोग पर और उसके सिलसिले में मुसलमानों पर लगाई शान्ति और संयम की शर्त पर बारीक नजर से गौर करेंगे तो हमें तुरंत मालूम हो जायगा कि किस तरह वे मुस्लिम-संस्कृति में इस आवश्यक सुधार का संस्कार धीरे धीरे कर रहे थे, किस तरह हिन्दुओं के पुरुषार्थ, कर्मण्यता और शूरवीरता के भावों को उत्साहित करके उनकी जड़ता को कम कर रहे थे। उस समय के, खास कर मुस्लिम नेताओं और कार्यकर्ताओं तथा आमतौर पर सारी मुस्लिम जनता में शान्ति, सहिष्णुता और संयम का प्रवाह, धीरे धीरे बढ़ रह था। यदि अली-भाई आदि कुछ मुस्लिम नेता जो आज न इधर के रहे हैं न उधर के, महात्माजी के संपर्क और प्रभाव में न आते तो इस कलह के युग में वे हिन्दुओं के सबसे बड़े और तीव्र मुखालिफ होते जिस प्रकार वे मुस्लिम नेताओं, कार्यकर्ताओं और जनता के उच्च गुणों

सद्भावों और सुवृत्तियों को स्पर्श, जाग्रत और उत्तेजित करके खूबी से मुस्लिम-संस्कृति की अच्छाई को बढ़ा और बुराई को कम रह रहे थे, यदि वही क्रम उनके जेल जाने के बाद भी क़ायम रह पाता, यदि छोटी या बड़ी भूलों के लिए मुस्लिम नेताओं या कार्य-कर्ताओं की निन्दा या बदनामी न की जाती, यदि उनकी पोल खोल देनेकी बालक-योग्य और असज्जनोचित चुलबुलाहट को हम दबा पाते, यदि सच बात कहने, हक़ीक़त को ज्यों का त्यों ज़ाहिर कर देने, वैज्ञानिक तराजू पर दोनों की भलाई-बुराई तौलने और इन्साफ़ चाहने की तत्वतः समर्थनीय परन्तु व्यवहारतः अदूर-दर्शिता और अव्यावहारिकता-पूर्ण मनोवृत्ति पर हम कब्ज़ा कर पाते, तो मुस्लिम संस्कृति के सुधार का रास्ता अब तक खुल गया होता। ग़लतियाँ होने पर भी यदि हम उनका अर्थ उदारता-पूर्वक करते, उनके बुरे भाग पर कम और सहानुभूति-पूर्वक तथा अच्छे भाग पर ज्यादह और उत्साह-पूर्वक प्रकाश डालते, यदि लोगों से कहते—"भाई, ग़लती बड़ों बड़ों से हो जाया करती है" और इस तरह नेताओं और कार्यकर्ताओं को उसके परिणाम और जिमे-वारी से बचा लेते और संस्कृति-सुधार के लिए उनका हौंसला बढ़ाते तो यह काम जल्दी और ज्यादह आसान हो जाता। उनकी भूलों के समय हमारा व्यवहार बुज़ुर्गी, दानाई और हम-दर्दी का न होने के कारण मुस्लिम सुधारेच्छु नेता और कार्य-कर्ता, काफी बल और उत्साह के अभाव में, एक एक करके फिर उसी पुराने गड्हे में जा गिरे—जो एक दो बच रहे, वे आज अपने को सब तरह असमर्थ और प्रभावहीन पाते हैं।

हिन्दू क्या सहायता दें?

यह सच है कि अपनी संस्कृति का सुधार पहला काम है। मुसलमानों का और इसमें उन्हीं का लाभ सब से ज्यादह है। पर यदि वे इसकी ज़रूरत न महसूस कर पाये हों, या सुधार का काफ़ी बल और हिम्मत अपने में न अनुभव करते हों तो क्या एक दूसरी संस्कृति वाले भाई का यह कर्तव्य नहीं है कि उनका रास्ता साफ़-सुथरा और विशद कर दे? यदि यह परोपकार-भाव हमारी समझ में ठीक ठीक न आता हो तो क्या इस खयाल से भी कि कम से कम हम तो उसके बुरे प्रभाव और फल से बचेंगे, हमें यह न करना चाहिए? मैं तो एक सच्चे हिन्दू का परमार्थ-दृष्टि से यह कर्त्तव्य और स्वार्थ-दृष्टि से महान् आवश्यकता समझता हूँ कि वह मुस्लिम सुधार का रास्ता सुगम कर दे—उसके सुधारेच्छुओं का हौसला अपनी सहानुभूति, सद्-व्यवहार, सौजन्य, प्रोत्साहन, सहायता आदि के द्वारा बढ़ा कर।

पहले कुरान—सुधार या सुधारक का जन्म?

किन्तु इस पर यह कहा जाता है कि मुसलमानों की हिंसा-वृत्ति तब तक कम न हो सकेगी, सुधर न सकेगी जब तक कुरान की वे आयतें न निकाल डाली जायँ, या उनका अर्थ न बदल दिया जाय, जिनके द्वारा वह पोसी और पाली गई हैं। तो इस पर यह सवाल उठता है कि पहले कुरान में संशोधन हो या पहले संशोधन की जरूरत समझने और करने वाला मुस्लिम सुधारक पैदा हो? पहले वेदों के अर्थों में सुधार हुआ, या पहले

ऋषि दयानन्द पैदा हुए ? कुरान में सुधार या तो मुसल्मान कर सकता है या, वह जो हिन्दू, मुसल्मान, ईसाई इन नामों और दायरों से ऊपर उठ गया हो, दूसरा नहीं, दूसरे तो सुधार की ज़रूरत सुझा सकते हैं, सुधार की प्रेरणा कर सकते हैं, सुधारक पैदा होने योग्य स्थिति बना सकते हैं, सुधारेच्छु का हौसला बढ़ा कर उसको आगे बढ़ा सकते हैं। आइए, हम हिन्दू इस काम में मुसल्मानों का साथ दें, उनकी सहायता करें। यह काम हम उन्हें गालियाँ देकर, कोस कर, नीचा दिखाकर, परेशान करके, डराकर या दबा कर नहीं कर सकते। यह तो हम उन्हें समझा कर, रिझा-कर, प्रेम दिखा कर; हमदर्दी का हाथ आगे बढ़ाकर, धीरज, विश्वास और सहिष्णुता के साथ ही कर सकते हैं।

नेता और सुधारक—

यह काम न हिन्दू-नेता कर सकते हैं, न मुस्लिम नेता। यह तो हिन्दू-सुधारक और मुस्लिम-सुधारक ही कर सकते हैं। ख्वाजा-हसन निज़ामी, श्री जिनाह, सर अब्दुल रहीम नेता कहे जा सकते हैं, सुधारक नहीं; पू० मालवीय जी, लालाजी जितने नेता हैं, उतने सुधारक नहीं। सुधारक कबीर थे, नानक थे, दयानन्द थे, गाँधी जी हैं। नेता विचारक कम, कर्ता अधिक होता है; सुधारक विचा-रक और कर्ता दोनों होता है। नेता दल-विशेष की चीज़ होता है; सुधारक मनुष्य-मात्र की सम्पत्ति। नेता में उत्साह तो खूब होता है; पर दर्शन (vision) नहीं या कम; सुधारक द्रष्टा होता है। नेता बाहु है; सुधारक दिल, दिमाग़ और बाहु तीनों है। नेता संरक्षक

(Conservative) होता है; सुधारक सर्व-ग्राहक और सर्व-व्यापक; नेता संभालता रहता है; सुधारक देता जाता है और बढ़ाता जाता है। नेता अपनों को चाहता है; दूसरों को दुरदुराता है; सुधारक दूसरों को भी सुधार कर अपना बनाता है। नेता से प्रतिपक्षी डरता है; सुधारक को पूजता है। नेता का शस्त्र होता है भय; सुधारक का होता है प्रेम। नेता आज की बात सोचता है; सुधारक कल की दृष्टि में रखकर आज का कार्य-क्रम बनाता है। नेता क्षत्रिय है, सुधारक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सब कुछ है। नेता प्रतिपक्षी को हराना चाहता है; सुधारक उसे जीताना चाहता है। नेता जीतने में गौरव समझता है, सुधारक हारने में; नेता जीत कर भी हारता है; और सुधारक हारकर भी जीतता है। नेता जाति-भक्तों, देश-भक्तों के हृदय में रहता है; सुधारक मनुष्य-मात्र के हृदय में घर बनाता है। नेता अच्छों का संग्रह करके ले चलता है; सुधारक बुरों, पतितों का उद्धार करता है। नेता धर्म-पालक होता है, सुधारक धर्म-संशोधक। नेता समाज रक्षक होता है; सुधारक समाजोद्धारक! नेता वीर होता है; सुधारक वीर और तपस्वी दोनों होता है। नेता में जोश होता है, आवेश होता है, सुधारक में गंभीरता और शान्ति भी होती है। नेता नदी है; सुधारक सागर। नेता कंचन है; सुधारक पारस। नेता शक्ति है; सुधारक धर्म। परमात्मा का अनुग्रह है कि भारत में नेता भी हैं; सुधारक भी है। उसे किस बात की कमी है? हिन्दुओ और मुसल्मानो, अपने नेताओं को तो तुमने पहचान लिया है, अपने सुधारक को पहचानो!

संस्कृतियों का आदर्श और मेल—

यहाँ तक जो संस्कृति का विवेचन हुआ, वह तो हिन्दुओं और मुसलमानों की संस्कृति की वर्तमान अवस्था का हुआ, संस्कृति के आदर्शों का नहीं। हमने यह तो देख लिया कि दोनों संस्कृतियाँ आज किस दरजे तक पहुँची हुई हैं, अब यह देखना बाक़ी है कि वे दोनों को कहाँ पहुँचाना चाहती हैं। अर्थात् यह कि उन संस्कृतियों का कार्य (mission) क्या है? किसी संस्कृति का कार्य हो सकता है—उस जाति या समूह के बलिष्ठ और पवित्र तत्वों को बढ़ाते हुए पूर्णता तक पहुँचा देना। इस्लाम संस्कृति की विशेषता है—उसका भ्रातृ-भाव, हिन्दू-संस्कृति की विशेषता है, उसका आत्म-भाव, ईसाई संस्कृति की विशेषता है, उसका दया-भाव। मुस्लिम संस्कृति चाहती है कि मुसलमान दुनिया में भ्रातृ-भाव को फैला कर पूर्णता को पहुँचें; ईसाई संस्कृति चाहती है कि ईसाई दया-भाव का विकास करके पूर्णत्व प्राप्त करें; आर्य या हिन्दू संस्कृति कहती है कि आत्म-भाव को व्याप्त कर के परमतत्व को पाओ। गहरा विचार कर के देखेंगे तो हमें मालूम होगा कि भ्रातृ-भाव, दया-भाव और आत्म-भाव—तीनों एक ही पूर्ण तत्व के भिन्न भिन्न अंग या रूप हैं। भ्रातृ-भाव, दया-भाव और आत्म-भाव तीनों के अन्दर एक दूसरे का भाव समाया हुआ है और तीनों परस्परावलंबी हैं। आत्म-भाव की कल्पना कर लेने वाले भ्रातृ-भाव या दया-भाव की कल्पना करने वालों से, तत्व-चिन्तन में ज़रूर आगे बढ़ गये हैं; पर उसके कारण उन समाजों के इन भावों के विकास-क्रम की आरंभिक अवस्थाओं में संघर्ष तो दूर,

नाम के सिवा प्रायः कोई भेद नहीं रह जाता। भ्रातृ-भाव और दया-भाव दोनों की परिणति अन्त को आत्म-भाव में हुए बिना रह नहीं सकती। क्या बलिहारी हो यदि मुस्लिम, ईसाई और आर्य—तीनों जातियाँ अपने इन आदर्श को पहचान कर, एक दूसरे की पोषक होती हुई, सारे मानव-वंश की सेवा करें! यही परमेश्वर की सच्ची सेवा है; यही सच्ची आस्तिकता है; यही सच्चा मुसल्मानी-पन, ईसाई-पन और हिन्दू-पन है। परमात्मा हमारी आँखें खोलें, हमें दर्शन दें, हमें बल दें।

दो प्रकार की एकता—

संस्कृति की इतनी चर्चा से हम यह जान गये कि न हमारे धर्म-तत्वों में कोई विरोध है, न संस्कृति के आदर्शों में; सिर्फ कहीं भेद या विरोध या कमी है तो हमारे मौजूदा स्वभावों में है। तो सवाल यह पैदा होता है कि यह स्वभाव-भेद कैसे मिटे? यह भी सवाल हो सकता है कि यदि यह स्वभाव-भेद मिटना निकट भविष्य में असंभव या दुःसाध्य हो तो दोनों में एकता हो ही नहीं सकती? इन पर विचार करते हुए, हमें एकता के दो रूपों का परिज्ञान होता है—(१) सांस्कृतिक अथवा स्वभावगत एकता और (२) राजनैतिक अर्थात् काम चलाऊ एकता! सच्ची और स्थायी एकता तो सांस्कृतिक एकता ही है और स्वभाव-विरोध मिट जाने पर ही हो सकती है; पर होगी धीरे धीरे। राजनैतिक एकता के लिए इतनी बातें आवश्यक हुआ करती हैं—(१) दोनों का एक राजनैतिक ध्येय (२) दोनों के समान राजनैतिक सुख-दुःख (३) उस ध्येय का ज्ञान और सुख-दुःखों की अनुभूति।

दोनों का राजनैतिक मक़सद दोनों के राष्ट्रीय नेताओं ने और राष्ट्रीय महासभा ने निश्चित कर दिया है—स्वराज्य ! दोनों के समान सुख-दुःख भी मौजूद हैं—मौजूदा शासन से दोनों को होने वाले अनेक प्रकार के दुःख—गुलामी और स्वराज्य में मिलने वाले अनेक सुख—आज़ादी। तीसरी बात में मुझे अभी ख़ामी नजर आती है। मौजूदा शासन-प्रणाली से हमें दुःख तो है; पर अधिकांश हिन्दू-मुस्लिम उन्हें उस तीव्रता से नहीं अनुभव करने लगे हैं, जिससे वे बिना स्वराज्य के एक मिनिट भी जी सकें—उसकी भारी से भारी कीमत तत्क्षण दे दें। आज़ादी का प्रेम अभी इतना नहीं पैदा हुआ है कि उसके बिना हमारे जी को चैन न मिले। यदि ऐसा होता तो हम आपस में लड़ते रहने के बजाय किसी न किसी तरह एकता स्थापित करके अपने सामान्य ग़नीम से भिड़े रहते। अस्तु।

अब हमें यह देखना चाहिए कि दोनों प्रकार की एकता हम किस तरह साध सकते है, उनमें क्या बाधायें हैं, वे कैसे दूर की जा सकती हैं और उसके लिए हम हिंदुओं का क्या कर्त्तव्य है—इनका सविस्तर विचार अगले प्रकरणों में करेंगे।

६—एकता के साधन और कठिनाइयाँ

सांस्कृतिक एकता—

सांस्कृतिक और राजनैतिक दोनों प्रकार की एकता के साधनों पर हम पृथक् पृथक् विचार करें। सांस्कृतिक एकता के लिए इतनी बातें ज़रूरी हैं—

(१) हिन्दुओं और मुसल्मानों को इस एकता की ज़रूरत महसूस कराना—इसके लिए लेख, पुस्तकें, व्याख्यान दिलवाना, चर्चा करवाना।

(२) दोनों जातियों के उदार और आज़ाद ख़याल के लोगों के संघ और जमैयत क़ायम करना,

(३) दोनों के सामाजिक सुख-दुःखों के अवसर पर एक दूसरे का सहयोग देना,

(४) पुराने इतिहासों की कड़वी स्मृतियों को भुलाना और नये युग के प्रेम और शान्ति के पैगाम को सुनना और मानना,

(५) दोनों जातियों की अच्छाइयाँ और खूबियाँ एक दूसरी पर फैलाई जायँ और बुराइयों पर तवज्जह न दिलाई जाय,

(६) हिन्दू मुसल्मानों के धर्म-ग्रन्थों को, तथा अन्य साहित्य को, और मुसल्मान हिन्दुओं के धर्म-ग्रन्थों तथा साहित्य को पढ़ने, मनन करने के लिए उत्साहित किये जायँ,

(७) मुस्लिम नेता अपने समाज की हिंसावृत्ति को दमन

करने का नियम करलें और हिन्दुओं को उनके अत्याचारों से अभय का आश्वासन दें,

(८) मुसलमान गो वध और गो-मांस-भक्षण छोड़ दें,

(९) हिन्दू मुसलमानों को हिकारत की नज़र से देखना, उन्हें 'म्लेच्छ' 'मुसण्डा' आदि हीन शब्दों से याद करना छोड़ दें,

(१०) मुसलमान हिन्दुओं को 'काफ़िर' कहना छोड़ दें।

(११) हिन्दू मसजिद में जाने के लिए, मुसलमान मन्दिरों में आने के लिए उत्साहित किये जायँ,

(१२) हिन्दू मुसलमानों के धार्मिक उत्सवों में मुसलमान हिन्दुओं के धार्मिक त्यौहारों में शरीक हुआ करें,

(१३) हिन्दू मुसलमानों के धार्मिक भावों को आघात पहुँ-चाने की और मुसलमान हिन्दुओं के धर्म को निन्दा करने की कोशिश छोड़ दें।

(१४) दोनों जातियों में किन किन बातों में मिलाप और समानता है, इसी पर ज्यादह ध्यान दिया जाय, किन किन बातों में विरोध है, इसकी तरफ़ उदासीनता रक्खी जाय।

(१५) यदि मुसलमान हिंसावृत्ति कम कर दें, और गो-भक्षण छोड़ दें तो उनके साथ हिन्दुओं का रोटी-बेटी-व्यव-हार जारी हो जाय, *

* हिन्दू शायद इस सूचना पर ज़्यादह चौंकें, यदि हिन्दू अंगरेज़ों के साथ खाना खा सकते हैं, मेमों से शादियाँ कर सकते हैं, तो मुस-लमानों से, गो-भक्षण बंद करने के बाद, ऐसा व्यवहार करना क्यों कर अनुचित हो सकता है ? लेखक

(१६) दोनों एक दूसरे के समाज-सुधार की बातों में दिलचस्पी लें,

(१७) मुसल्मानों के लिए हिन्दी और कुछ संस्कृत पढ़ना तथा हिन्दुओं के लिए उर्दू और कुछ अरबी पढ़ना कुछ हद्तक लाज़िमी कर दिया जाय,

(१८) हिन्दुओं और मुसल्मानों के अलग विद्यालय और विश्व-विद्यालय न रहें, एक ही विद्यालयों और विश्व-विद्यालयों में सिर्फ़ धार्मिक शिक्षा का अलहदा प्रबंध हो जाय,

(१९) मुसलमान एक थाली में खाना, एक लोटे से पानी पीना बंद कर दें और बरतन आदि ज्यादह सफ़ाई से रक्खा करें।

(२०) हिन्दू मुसल्मानों से छूआछूत और खान-पान संबंधी थोथी ऊपरी बातों को कम महत्व देने लगें,

(२१) हिन्दू संस्कृत-प्रचुर और मुसल्मान अरबी-भरी बोली बोलना और लिखना छोड़ दें ।

<u>यही रास्ता है</u>—

हिन्दुओं और मुसल्मानों के मौजूदा वैमनस्य और कटुता के ज़माने में ऐसी बातें पेश करने वाला 'शेख़चिल्ली' कहा जाय तो ताज्जुब नहीं। फिर भी मैं कहता हूँ कि यदि इन दोनों जातियों को सदा के लिए नजदीक आना है तो उसका यही उपाय है। यह सच है कि आज की परिस्थिति इन बातों की तरफ़ अधिकांश हिन्दू-मुसल्मानों का ध्यान न जाने देगी; पर फिर मैं कहता हूँ कि रास्ता यही है। जब तक एक जाति दूसरी जाति को, एक संस्कृति दूसरी संस्कृति को हड़प जाने की अभिलाषा रक्खेगी, तब तक

एकता कठिन है और जब तक एकता नहीं है, तब तक भारत की आज़ादी एक स्वप्न है। जब तक भारत स्वतंत्र नहीं है, तब तक न हिन्दू-समाज, न हिन्दू-धर्म सुरक्षित है; और न इस्लाम न मुस्लिम-जाति महफ़ूज़ है। ग़ुलाम हिन्दुओं और ग़ुलाम मुसल्मानों का आपस में जूता-पैजार करते रहना वैसा ही हास्यास्पद है जैसा कि दो क़ैदियों का अपने कमरे के ईंट-रोड़े या कम्बल तसलों के लिए लड़ना—इस बात को भूल कर कि हम क़ैदी हैं, हमें जेल से छूटना है, जेलर हमारी बेवक़ूफ़ी पर हँस रहा है कि हम अपने आप अपनी बेड़ियाँ मज़बूत कर रहे हैं। कैसे दुःख और ग्लानि की बात है कि दुनिया तो विश्व-संघ, विश्व-कुटुंब, राष्ट्र-संघ, विश्व-धर्म, विश्व-संस्कृति की कल्पना कर रही है और हम इस देव-भूमि में घड़ी, घण्टा, बाजे और पीपल काटने जैसी क्षुद्र बातों पर आपस में लड़ाइयाँ लड़ रहे हैं। इस पर यदि हमारा राष्ट्र-धर्म हमें अमंगल का शाप दे रहा हो तो कौन आश्चर्य है ? हिन्दुस्तान में से अब हिन्दू-जाति या मुस्लिम-जाति अथवा उनकी संस्कृतियों को हटाने या दबाने की कल्पना किसी को कितनी ही रम्य और सुँदर मालूम हो, पर वह 'शेख चिल्लीपन' के सिवा और कुछ नहीं।

हिन्दुस्तानी संस्कृति—

हाँ, दोनों जातियों और संस्कृतियों में सुधारों की आवश्यकता है, वे हो भी सकते हैं—दोनों संस्कृतियों का आदर्श मूलतः भिन्न नहीं है, उसकी गति परस्पर विरोधिनी नहीं है, उनके सम्मि-

श्रण से बड़ी उम्दा भारतीय संस्कृति निर्माण हो सकती है, जो कि विश्व-संस्कृति की सृष्टि में अपना अच्छा हिस्सा दे सकेगी। वह संस्कृति न हिन्दू संस्कृति के नाम से पुकारी जायगी, न मुस्लिम नाम से। उसका नाम रहेगा, हिन्दुस्तानी संस्कृति। हर एक हिन्दू-मुसल्मान, पारसी, ईसाई, अपनी अपनी जातियों की भाषा में सोचने और बोलने की अपेक्षा हिन्दुस्तान की भाषा में सोचें और बोलें। अपने अपने समाजों की सेवा और रक्षा करते हुए भी वे 'मादरे हिन्द' की सेवा को न भूलें, उनके दुःखों को न भुलावें; सब से पहले उसका काम करें। यह दिन चाहे दूर हो, पर उसके अरुणोदय की लालिमा की झलक मुझे स्पष्ट दिखाई दे रही है और इसी विश्वास पर ये पंक्तियाँ लिखी गई हैं। अस्तु।

राजनैतिक एकता—

अब रहा राजनैतिक एकता का सवाल। इसके लिए इतनी बातें होनी चाहिएँ—

(१) मुसल्मान हिन्दुस्तान को अपनी मातृभूमि और अपने को उसका दुलारा बेटा मानने लगें,

(२) मुसल्मान हिन्दुओं के लिए गोवध बन्द कर दें और हिन्दू मुसल्मानों के लिए मसजिदों के सामने बाजा बजाना बंद कर दें,

(३) यदि कहीं दोनों जातियों में झगड़ा हो जाय तो उसका फ़ैसला राष्ट्रीय महासभा से करवावें और उसे मानें,

(४) अपने अपने संघटन चाहे करते रहें; पर सामाजिक

सेवा और समाज-सुधार के अलावा उनका राजनैतिक उपयोग न किया जाय,

(५) अखाड़े शौक़ से खोलें; पर उनमें हिन्दू-मुसल्मान, पारसी, ईसाई, सबको आने दिया जाय,

(६) अपनी अपनी जाति के संरक्षक-दल बनाने के बजाय परस्पर सहायक-दलों का संगठन किया जाय,

(७) अपनी अपनी संख्या बढ़ाने की धुन छोड़ दी जाय,

(८) बड़ी जातियाँ छोटी जातियों को यह आश्वासन दें कि स्वराज्य में उनके हितों की पूरी रक्षा की जायगी,

(९) यदि छोटी जातियों को इतने से इत्मीनान न हो तो बड़ी जातियाँ उनकी माँगों और जरूरतों के निर्णय का भार उन्हीं के उदार, स्वतंत्र और राष्ट्रीय विचार के नेताओं पर छोड़कर अपनी उदारता और निर्मलता का प्रत्यक्ष परिचय दें,

(१०) राजनैतिक और राष्ट्रीय बातों में जातिगत प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त की बुराई और माँग की बेजाइयत लेख, व्याख्यान, चर्चा आदि के द्वारा प्रेम-भाव से बताई जायँ और रफ़्ता रफ़्ता इस प्रवृत्ति को कम किया जाय,

(११) सब जातियों में राष्ट्रीय विचार और भाव फैलाये जायँ तथा राष्ट्रीय बातों के मुक़ाबले में जातिगत या साम्प्रदायिक बातों को महत्व न दिया जाय, और,

(१२) हर शिक्षित और बालिग़ हिन्दू-मुसल्मान राष्ट्रीय महासभा का मेंबर बनना अपना कर्तव्य समझे और उसमें अपना गौरव माने ।

मैं जानता हूँ कि आज ये बातें भी मखौल में उड़ा दी जायँ तो आश्चर्य नहीं। ताहम मैं कहता हूँ कि यदि हमें स्वराज्य लेना है तो यह किये बिना चारा नहीं।

कठिनाइयाँ—

दो में से एक भी प्रकार की एकता में आज सब से बड़ी कठिनाई यही है कि आज देश में उसके अनुकूल शुद्ध और सद्भाव-पूर्ण वायुमण्डल नहीं है। वह तब पैदा हो सकता है, जब या तो जातीय नेता और कार्य-कर्ता इस बात को खुद-बखुद समझ जायँ कि राष्ट्रीयता के मुकाबले में जातीय बातों को ज्यादह महत्व देना कितना हानिकर है, या दो में से एक जाति हार कर या थक कर दूसरी से समझौता कर ले। मेरा खयाल यह है कि शायद दूसरी बात होकर रहेगी और सम्भवतः मुसलमानों को हार खानी पड़ेगी। स्वामी श्रद्धानन्दजी के खून ने वायुमण्डल को बहुत जोशीला बना दिया है, हिन्दुओं के तटस्थ हिन्दुओं के, दिल पर भी इससे भारी आघात पहुँचा है और यदि इस खून में कोई साजिश साबित हुई तो हिन्दुओं की शुद्धि और संगठन को फिर वे कुछ सदोष ही क्यों न हों, शायद ईश्वर ही एकाएक न रोक सके।

एकता के अनुकूल वायुमंडल उस अवस्था में भी हो सकता है, जब कि हिन्दू-मुसलमानों पर कोई भारी संकट उमड़े। सरकार तो अब ऐसी भूल सहसा करेगी नहीं। यदि दोनों जातियाँ आपस में सलाह कर के एक बार जम कर लड़ लें और फिर सुलह कर लें—तब भी काम बन जाय, पर सरकार ऐसा मौका आने देगी नहीं।

दूसरी कठिनाई है—अफ़गानिस्तान के हमले का और उसके लिए मुसल्मानों की साजिश का भय। यदि कुछ मुसल्मानों की ऐसी ख्वाहिश भी हो, उन्होंने ऐसी साजिश भी की हो, तो एक तो यह उनकी दुनिया की हालत का और अपनी हालत का अज्ञान सूचित करता है और दूसरे हमारा उससे भय-भीत होना हमारा भी अज्ञान प्रकट करता है। आज यदि हिन्दुस्तान के सारे मुसल्मान अफ़ग़ानिस्तान से मिल जायँ और तुर्कस्तान तथा ईरान भी उनकी मदद के लिए दौड़ आवें तो भी अफ़ग़ानिस्तान अँगरेजों और उनके मित्रों के मुक़ावले में हिन्दुस्तान सर नहीं कर सकता। अफ़ग़ानिस्तान को यदि हिन्दुस्तान के मुसल्मान बुलाना चाहते हों तो अफ़ग़ानिस्तान को वेवकूफ़ कहना होगा, यदि वह उनके भरोसे हिंदुस्तान पर चढ़ाई करने के लिए आमादा होगा। वह अच्छी तरह जानता है कि मुसलमान हिन्दुस्तान में गुलाम हैं, न उनके पास हथियार हैं, न अंगरेजों के मुक़ावले में वे युद्ध-कुशल ही हैं। तुर्कस्तान खुद अपने ही हाथ-पाँव अभी मज़बूत नहीं कर पाता है तो वह यह नई आफ़त क्यों मोल लेने लगा?

यदि अफ़ग़ानिस्तान खुद ही यहाँ के मुसल्मानों को अपना हथियार वनाकर यहाँ धावा बोलना चाहता हो तो यह सोचने की वात है कि वह ऐसा क्यों करना चाहता होगा और किस हालत में कर सकेगा? यदि वह इस्लाम के प्रचार के लिए ऐसा करना चाहता हो तो, एक तो वह हिन्दुस्तान के मुसल्मानों के इतना धर्मान्ध नहीं है, दूसरे, तुर्कस्तान और ईरान आदि भी न तो इतने

धर्मान्ध हैं, न इसके लिए तैयार ही हैं—जिस तुर्कस्तान ने खुद ही अपने राज्य से खिलाफ़त को निकाल दिया, जिसके सिर पर तुर्की टोपी—नहीं अब तो तुर्की टोपी भी फेंक दी है—और नाम 'टर्क' के सिवा जिसके पास इस्लान का कोई चिह्न नहीं रह गया है वह धर्म-प्रचार में क्यों अफ़ग़ानिस्तान या हिन्दुस्तान के मुसल्मानों की मदद करने लगा ? और बिना तमाम मुस्लिम कौमों या ताक़तों की इमदाद के न अफ़ग़ानिस्ता, न धार्मिक आक्रमण करने में, न हिन्दुस्तान के मुसल्मान उसे कराने में सफल हो सकते हैं।

यदि अफ़ग़ानिस्तान राजनैतिक हमला करना चाहता हो तो जब तक एशिया या योरप के दूसरे राष्ट्र या शक्तियाँ उसके सहायक न हों, तब तक उसका यह हौसला नहीं हो सकता। और वे दूसरे राष्ट्र क्यों अफ़ग़ानिस्तान को इस काम में मदद देने लगे। यदि उसमें उसका भारी स्वार्थ न हो। और यदि कोई एशियाई या यूरोपीय राष्ट्र इतनी भारी-ब्रिटिश सल्तनत से लोहा लेने की महत्वाकांक्षा रखता है तो फिर खुद ही आगे क्यों न बढ़ेगा ? हाल ही जर्मनी ने यह हौसला किया था और उसका नतीजा हमारे सामने है। राजनैतिक ज्योतिषी निकट भविष्य में अमेरिका या इंग्लैंड अथवा इंग्लैण्ड और जापान में युद्ध होने का अनुमान करते हैं—बहुत संभव है कि इस युद्ध का लक्ष्य-केन्द्र भारतवर्ष हो, क्योंकि भारत के बिना ब्रिटिश साम्राज्य कुछ भी नहीं है। पर वह युद्ध प्रधानतः राजनैतिक न होगा; व्यापारिक होगा—राजनीति-मूलक न होगा, व्यापार-मूलक होगा। और ऐसा कोई युद्ध यदि कभी भविष्य में हुआ भी, तो वह हिन्दु-

स्तान के मुसल्मानों की साजिश के या—अफ़ग़ानिस्तान की महत्वाकाँक्षा के फल-स्वरूप न होगा और उस में न हिन्दुस्तान के मुसलमानों का, न अफ़ग़ानिस्तान का, गहरा स्वार्थ सधेगा। उसके फलाफल या सुख-दुःख हिन्दुओं और मुसल्मानों के लिए प्रायः समान होंगे। वह हिन्दुओं और मुसल्मानों की एक ही समस्या होगी। यदि अफ़ग़ानिस्तान और बोल्शेविक रूस की मित्रता से यह भय उत्पन्न हुआ हो तो भारत के हिन्दू-मुसल्मानों की समस्या नहीं है, न इससे उसका कुछ संबंध ही है। यह तो शाशन–पद्धतियों, शाशन के आदर्शों, समाज-व्यवस्थाओं और सामाजिक आदर्शों में क्रान्ति की समस्या है। यह तो दुनिया के ग़रीबों और अमीरों के संबंध की समस्या है। यह मज़दूरों और मालिकों के ताल्लुक़ात का मसला है।

और घड़ी भर के लिए मान लें कि अफ़ग़ानिस्तान हिन्दुस्तान पर चढ़ाई के लिए आ रहा है तो हम हिन्दुओं को ही इसका इतना अधिक भय और चिन्ता क्यों? इसकी चिन्ता अँगरेज़ों को ज्यादह होगी या हमें? यदि भारत अँगरेजों के हाथ से निकल गया तो हमारा ज्यादह नुक़सान होगा या अँगरेजों का? और क्या अँगरेज़ अपने भारत की रक्षा के लिए काफ़ी नहीं हैं! भारत की चिन्ता करने के अधिकारी हम तब होंगे, जब भारत हमारा होगा। कौन कह सकता है कि अफ़ग़ानिस्तान का राज्य भारत में अँगरेजों के राज्य से बुरा ही होगा? और यदि हिन्दू ऐसा समझते हों कि बुरा ही होगा और सचमुच अफ़ग़ानिस्तान हिन्दुस्तान पर चढ़ कर आ रहा हो तो हिन्दू उस समय अपने देश की रक्षा

में मर मिटें। पर यदि हिन्दू इस तरह अफ़ग़ानिस्तान के खिलाफ़ वर्तमान अँगरेज़ी भारतवर्ष के लिये मर मिटने को तैयार हों तो फिर भारतवर्ष को अपना बनाने के लिए मौजूदा सरकार से जूझना क्यों छोड़ बैठे हैं? क्यों असहयोग के असफल होने की आवाज़ उठ रही है, क्यों सविनय भंग के संबंध में निराशा के उद्गार सुनाई देते हैं, क्यों खादी और चरखे का पैग़ाम मानों बहरे कानों तक पहुँच रहा है, क्यों हिन्दू-मुसल्मान आपस में समझौता नहीं कर पाते हैं?

यदि अफ़ग़ान-भय आज के लिए नहीं, स्वराज्य-प्राप्ति के बाद के लिये है तो यह और भी निर्मूल है। जो भारत बलाढ्य इंग्लैण्ड को पछाड़ कर हिन्दुस्तान ले लेगा, वह अफ़ग़ानिस्तान का मुक़ाबला न कर सकेगा, यह शंका तो भारत की राजनीति का बालक भी न करेगा। आज भारत में हिन्दू प्रबल हैं। इसलिए भारतीय स्वराज्य का अर्थ होगा। प्रधानतः हिन्दुओं के बल से मिला। स्वराज्य अर्थात् स्वराज्य में भी हिन्दुओं का बल प्रधान होगा। और जो हिन्दू आज गुलामी में भी मुसल्मानों के दाँत खट्टे कर सकते हैं, वे क्या स्वतंत्र होने पर उनकी साजिशों का दमन न कर सकेंगे? फिर स्वराज्य हिन्दू-मुस्लिम एकता के बिना असंभव है। हिन्दू-मुस्लिम-एकता के मानी हैं—हिन्दुओं और मुसल्मानों आदि का स्वराज्य-सञ्चालन-संबंधी समझौता। यह समझौता तभी हो सकता है, जब या तो दोनों जातियों के हृदय में परिवर्तन हो जाय, या एक हार जाय। यदि पहली बात हुई तो फिर किसी एक जाति की साज़िश का भय व्यर्थ है। यदि दूसरी बात हुई

और उसमें जैसा कि मेरा ख़याल है, मुसलमानों की हार हुई तो अवश्य समझौते की शर्तें हिन्दुओं के अनुकूल ज्यादह होंगी। यदि हिन्दुओं को हारना पड़ा—यदि हिन्दू इतने कमज़ोर साबित हुए तो फिर अफ़ग़ान-भय का रोना रोने से क्या फ़ायदा? इस तरह यह कठिनाई, जहाँ तक मैं विचार करता हूँ, एक कल्पित भूत से बढ़कर नहीं है।

तीसरी कठिनाई है—दोनों जातियों के नेताओं और कार्य कर्ताओं की मनोवृत्तियाँ—किसी आन्दोलन या संस्था के कार्य की सफलता-विफलता या सुपरिणाम-दुष्परिणाम योजनाओं, प्रस्तावों, और व्यवस्था-पत्रों पर इतनी नहीं अवलंबित रहती जितनी नेताओं, कार्य-कर्ताओं के भावों, स्वभावों और हेतुओं पर अवलम्बित रहती है। योजना, प्रस्ताव, व्यवस्था-पत्र आदि एक हद तक निस्संदेह प्रवर्तकों, नेताओं, कार्य-कर्ताओं के भाव और हेतु के द्योतक होते हैं; परन्तु वह भाव और हेतु जिस हद तक सोलहों आना योजनाओं, प्रस्तावों और व्यवस्था-पत्रों द्वारा ठीक ठीक प्रकट होता है और जिस हद तक वे उसी उत्साह, लगन, सद्भाव और सावधानी-पूर्वक वैसा कार्य करते हैं, उसी हद तक वे अपने कार्य की और समाज की सेवा कर पाते हैं। सत्कार्य, सन् आन्दोलन इसलिए नहीं असफलता या कुपरिणामदायी होते हैं कि लोगों ने उन्हें अपनाया नहीं, किसी ने उसमें विघ्न डाला; बल्कि इसलिए होते हैं कि प्रवर्तक, या नेता, या कार्य-कर्ता या तो अपने तईं सच्चे नहीं रह पाते, या काफ़ी सावधानी नहीं रखते। असहयोग-आन्दोलन इसलिए नहीं बिखर गया कि लोगों ने उसे अप-

नाया नहीं; या किसी बाहरी दल या समूह ने उसमें विघ्न डाल दिया; बल्कि इसलिए बिखरा कि नेतागण और हम कार्य-कर्ता उस लोहे के, उतने सच्चे नहीं रह पाये जितना हम दिखाते थे, या चाहते थे। हिन्दुओं और मुसल्मानों के शुद्धि-संगठन या तबलीग़-तन-ज़ीम मूलतः नीति-प्रतिकूल नहीं। दोनों की प्रातिनिधिक संस्थाओं की योजनाओं, प्रस्तावों में कोई बात नीति की दृष्टि से आक्षेप-योग्य नहीं। नेताओं के भाषणों में भी, असावधानी-पूर्वक या जोश में कहे कुछ आक्षेपार्ह वचनों या वाक्यांशों को छोड़कर, कोई बात ख़ास तौर पर अनीति-मूलक न दिखाई देगी। दोनों जातियों के प्रधान नेता बराबर सभाओं में यह कहते हैं कि हमें एकता पसंद है, उसके बिना स्वराज्य न मिलेगा; फिर भी क्या बात है कि दोनों जातियों में कटुता, तीखापन और अविश्वास बढ़ता ही जा रहा है? यह ठीक है कि समाज में एक ऐसा दल हुआ करता है जो अपनी स्वार्थ-हानि के कारण, या भय से, या अपनी महत्वाकांक्षाओं को सिद्ध करने के लिए, ख्वामख्वाह एक दूसरे के खिलाफ़ ज़हर उगला और आग फैलाया करता है। पर यदि हमारे कार्य और आन्दोलन का हेतु अच्छा हो और हम उसी अच्छी भावना से काम भी करते हों तो ऐसे विघ्न-सन्तोषियों की कलई शीघ्र खुल भी जाती है और वह दोनों दलों का तिरस्कार-पात्र भी हो जाता है। इस दल की बात छोड़ देने पर भी मुझे कुछ हिन्दू-मुस्लिम नेताओं और कार्यकर्ताओं की मनोवृत्ति के बारे में कुछ कहने की ज़रूरत मालूम होती है। अपने एक आदरणीय मित्र की, जो कि समाज और देश के एक प्रभावशाली सेवक हैं, एक बात मुझे

बार बार याद आया करती है। वे कभी कभी कहा करते हैं कि असहयोग की उठती लहर के जमाने में मैंने महात्माजी से कहा था—'महात्माजी, आपके आन्दोलन में पापी लोग घुस आये हैं—वे आपके तख्ते को उलट देंगे।' महात्माजी जवाब देते—'हाँ, ठीक है; पर मैं उन्हें चुनकर निकालने में असमर्थ हूँ।' अब वही बात मैं मालवीयजी से कहता हूँ—'महाराज, जैसे पापियों ने असहयोग की नाव को डुबोया, वैसे ही आपके आन्दोलनों में आ घुसे हैं—होशियार, ये इस नाव को भी ख़तरे में डाल देंगे।' मालवीयजी भी वही जवाब देते हैं जो महात्माजी ने दिया था। यह बात जितनी ही सच है; उतनी ही भयंकर है। जो बात हिन्दू-कार्यकर्ताओं पर घटती है वह, उससे कहीं अधिक, मुस्लिम-कार्य-कर्ताओं पर घटती है। कहने का मतलब यह कि दोनों आन्दोलनों में कम या ज्यादह ऐसे लोग हैं, जो अपने या अपने काम के तईं सच्चे नहीं हैं, जो चाहते कुछ और हैं, कहते कुछ और हैं और करते कुछ और हैं। दोनों आन्दोलनों में तीन प्रकार की मनोवृत्ति वाले लोग पाये जाते हैं—(१) वे जो सचमुच एकता चाहते हैं और एकता को साधन के ख़याल से हिन्दू-मुस्लिम-आन्दोलनों में पड़े हैं (२) वे जो एकता के कायल तो हैं; पर अपनी जातियों की रक्षा और वृद्धि को पहला स्थान देते हैं (३) वे जो एकता दरअसल नहीं चाहते, सिर्फ़ मसलहतन् एकता का नाम ले लिया करते हैं। मेरा ख़याल है कि दोनों जातियों में दूसरी और तीसरी श्रेणी के लोग ज्यादह हैं; मुसल्मानों में संभव है, तीसरी श्रेणी के लोग बढ़ जायँ; पर उनके समाज का मुझे ठीक

ठीक पता नहीं, इसलिये ठीक अन्दाज़ नहीं हो सकता। देश में इस समय भी एक ऐसा समुदाय है, जो वर्तमान शुद्धि-संगठन, तबलीग़ तनज़ीम को एकता के लिए आवश्यक नहीं मानता; वह अपने को राष्ट्रीय विचार वाला कहता है। इससे इन झगड़ों और आन्दोलनों का कोई संबंध नहीं। वे या तो उन्हें अनुचित समझते हैं या तटस्थ हैं। हिन्दू-मुसलमान-आनन्दोलनों में यदि पहले दल की बहुतमत होती, तो कटुता और अविश्वास इतने उग्र रूप में न दिखाई देता। यह एहसानमन्द है तीसरे दल की स्थिति, उग्रता और प्रभाव के तथा दूसरे दल की तीसरे दल के प्रति सहिष्णुता-भाव के। तीसरे दल को कमज़ोरी और ज़हर का घर कह सकते हैं। कमज़ोरी यह कि उसे अपना उद्देश साफ़ साफ़ कहने की हिम्मत नहीं—दबे-छुपे, खानगी में, वे ज़हर उगलते और फैलाते हैं। ज़हर है उन के बुरे, गंदे, कमीने खयाल और उनके प्रचार के वैसे ही नीच और गंदे साधन। वे दोनों को थोड़ी बुरी बातों और छोटी ग़लतियों को बहुत बड़ा बना कर फैलाते हैं, घटना को, समाचारों को, वक्तव्यों को तोड़-मरोड़ कर पेश करते हैं—भय के कल्पित भूत खड़े करते हैं; 'तुम कमज़ोर हो, तुम क़ायर हो, तुम बोदे हो, कह कर अपनी कमज़ोरी, कायरता या बोदापन समाज में बुरी तरह फैलाते हैं; कहते हैं 'वह एक लड़की उड़ायेगा तो हम दस उड़ायेंगे, वह एक झूठा गवाह बनायेगा तो हम दो खड़े कर देंगे, सत्य और धर्म के हामी हो तो कोने में बैठ रहो; जाति की रक्षा करनी हो, जाति को जिन्दा रखना हो तो वह जैसा करेगा, वैसा ही हमें भी करना

पड़ेगा ।' और यह अपने को प्रथम दोनों दलों से ज्यादह अक़्ल मन्द, ज्यादह बहादुर, ज्यादह क़ौमपरस्त, ज्यादह होशियार समझता है । यदि दोनों जातियों के मुखिया इस दल को अपने कब्ज़े में रख सकें, उनके नीति और धर्म के ख़िलाफ़ कामों की बार बार निन्दा किया करें और उन्हें फटकारा करें, तो दोनों जातियों के आन्दोलनों के चलते हुए भी अविश्वास, भय और संदेह का बाज़ार इतना गर्म न रहे । जनता और कार्यकर्त्ताओं को जाने दीजिए—दोनों के नेताओं को तो एक दूसरे की नीयत साफ़ होने का विश्वास होना चाहिए न ? पर आश्चर्य यह है कि कार्यकर्त्ताओं और नेताओं में ही, अक्सर ज्यादह अविश्वास, संदेह और भय दिखाई देता है और, शायद, वहीं वहाँ से जनता में फैलता है । नेताओं के पारस्परिक मतभेद की बात तो समझ में आ सकती है; पर यह द्वेष, अविश्वास, नीयत पर शक, बिलकुल समझ में नहीं आता । प्रतिपक्षी चाहे हमारे मत से नाराज़ हो, हमारे काम को अपने लिए बुरा समझता हो, हमारा विरोध भी प्राणपण से करता हो; पर हमारे हेतु पर, हमारे शील-चारित्र्य पर हमारी कार्य-प्रणाली की शुद्धता पर तो उसे शक कदापि न रहना चाहिए । वह मैदान में चाहे भले ही हम से दो दो हाथ कर ले; पर घर में, अपनी मण्डली में, तो जरूर हमारी सचाई की तारीफ़ करे । यदि यह स्थिति नहीं है तो दोनों जातियों के नेताओं और कार्यकर्ताओं को गंभीरता और धार्मिकता के साथ इस स्थिति पर विचार करना चाहिए । मैं जहाँ तक सोचता हूँ ऐसी स्थिति तभी उत्पन्न हो सकती है, जब या ता (१) किसी

की नीयत और कार्य-प्रणाली दरअसल साफ़ न हो या (२) हम समाज के सुख-दुःख की भावना से प्रेरित होकर नहीं, बल्कि व्यक्तिगत मानापमान के भाव से उत्तेजित हो कर किसी हलचल में पड़े हों, या (३) सस्ती लोक-प्रियता कमाने अथवा सस्ता-नेता बनने की महत्वाकांक्षा ने हमें धर दबाया हो। यदि मेरा यह स्थिति-निरीक्षण ठीक हो और उसका निदान भी सही हो, तो क्या दोनों आन्दोलनों के प्रेमी, कार्यकर्ता और नेतागण तक मेरे ये क्षुद्र विचार पहुँचेंगे, क्या वे उन पर विचार करेंगे ?

कुछ कार्यकर्ता यह भी मान बैठे हैं कि इन दोनों जातियों में एकता हो ही नहीं सकती, एकता होना उचित भी नहीं, लखनऊ से अब तक मुसल्मानों से समझौते या एकता के प्रयत्नों का फल अधिक फूट में हुआ, मुसल्मानों पर उसका कुछ असर न हुआ, वह एकता थी ही नहीं, एकता का भ्रम था आदि। इस पर मेरा यह निवेदन है कि एकता तो होगी और होकर रहेगी। इसके कारण मैं पहले ही बता चुका हूँ। एकता उचित नहीं है, यह कहना स्वराज्य और स्वाधीनता उचित नहीं है, ऐसा कहने के बराबर है। और यह कहना कि न हमें स्वराज्य दरकार है, न स्वाधीनता, अपने घोर अज्ञान को प्रकट करना तथा मानुष-भावों से इनकार करना है। यदि लखनऊ में समझौता न होता और अब तक एकता के लिए कोशिश न की गई होती तो आज देश में घर-घर स्वराज्य का जप होता हुआ न दिखाई पड़ता; जोश, चैतन्य उत्साह की लहर चारों ओर न देख पड़ती। वर्तमान कटुता एकता के प्रयत्नों का फल नहीं, आवश्यक और उचित प्रयत्न की

कमी का फल है। वह स्थायी एकता चाहे न रही हो, काम चलाऊ एकता ज़रूर थी और यदि हम अपना रास्ता न छोड़ देते तो वह स्थायी रूप ग्रहण कर सकती थी। स्थायी एकता के मानी हैं— जाति विशेष के स्वभाव पर स्थायी असर। दो चार वर्षों की आज-माइश, सो भी पूरी और तहेदिल से नहीं, इसके लिए काफ़ी नहीं समझी जा सकती। मेरा खयाल है कि ऐसी मोटी बुद्धि और अवांछनीय मनोवृत्ति भी एकता के मार्ग में कम रुकावट नहीं है! कार्यकर्त्ताओं को सूक्ष्म विचार और दूसरे के साथ न्याय करने की वृत्ति बनानी चाहिए।

कुछ लोग यह भी कहते हैं कि इस फूट के कारण खुद गाँधीजी ही हैं जिन्होंने राजनीति में धर्म को—खिलाफ़त को घुसेड़ कर मुसलमानों को अधिक धर्मान्ध तथा कट्टर बना दिया, जिससे उन्हें हिन्दुओं पर ऐसे अत्याचार करने की सूझी। यह कहना न खिलाफ़त को समझना है, न धर्म को समझना है, न गाँधीजी को समझना है। खिलाफ़त का समर्थन महात्माजी ने इसलिए किया था—मुसल्मान उसे अपने धर्म का मसला मान रहे थे और यों भी वह धर्म और नीति के नियमों के विरुद्ध न था। अपने भाई, मित्र या पड़ोसी के संकट में सहायता देना, उन्होंने अपना धर्म समझा। धर्म की व्याख्या मैं ऊपर कर चुका हूँ। मनुष्य का सारा जीवन आरंभ से अब तक, धर्म की परिधि से बाहर नहीं हो सकता! राजनीति मानव-धर्म का एक अंग है। धर्म-सिद्धान्त और धर्म-भाव से पृथक् राजनीति स्वार्थ-नीति, शैतान-नीति है और गले की फाँसी है। गाँधीजी ने यह कभी नहीं कहा

कि धर्म-शास्त्र की बाहरी बातों का प्रभुत्व राजनीति में हो। उन्होंने यह कभी नहीं कहा कि सिर्फ मूर्ति की पूजा करने वाला, या पाँच दफ़ा नमाज़ पढ़ने वाला, या चोटी अथवा दाढ़ी रखने वाला ही किसी संस्था का सदस्य हो, या किसी आन्दोलन में शरीक हो। हाँ, उन्होंने यह जरूर चाहा कि राजनैतिक और राष्ट्रीय कामों में भी उन्हीं नीति-नियमों का सचाई के साथ पालन किया जाय, जो कि धर्म के प्राण-रूप हैं। वे राजनीति को लूट का साधन नहीं रहने देना चाहते। वे उसे मानव-सेवा का, धर्म-भाव का साधन बनाना चाहते हैं। क्या यह बुरा है? इसे बुरा सिर्फ वही लोग कह सकते हैं जिनकी स्वार्थ-हानि इससे हो सकती है। फूट, राजनीति में धर्म-नीति का प्रवेश करने से नहीं, बल्कि धर्म-भाव-हीन राजनीति का बोलबाला रहने से फैली है। धर्म और राजनीति का यह अस्पष्ट विचार और उससे उत्पन्न दोष-दुष्ट मनोभाव भी एकता में कम बाधक नहीं हैं।

चौथी कठिनाई है—हमारी मौजूदा सरकार। यह हिन्दू-मुस्लिम-एकता की ही कठिनाई नहीं है, हिन्दुस्तान की ज़िन्दगी की कठिनाई है। यह केवल हिन्दु-मुस्लिम-एकता के मार्ग में ही एक समस्या नहीं है, बल्कि भारत के लिए खुद भी एक समस्या है। जब तक हममें एकता नहीं है, तब तक हम उसे मिटा या बदल नहीं सकते, तब तक वह हमारी छाती पर मौजूद हुई है। उसके रहते हुए भी हमें यह समस्या हल करनी होगी। यह तभी हो सकता है जब हम उसके प्रभाव और दायरे से अपने को जितना बचा सकें, बचावें। उसके कल-पुर्जों की सलाहें मानने के

बनिस्बत देश के नेताओं की, राष्ट्रीय महासभा की, सलाहों पर चलें। आज हिन्दू और मुसलमान इसलिए भी लड़ रहे हैं कि किसको कितने सरकारी-पद मिलें—कौन सरकार का ज्यादह आज़र्दा, खैरख्वाह और मूँछ का बाल बनकर रहे ? बजाय इसके हमारे दिलों में यह हौसला होना चाहिए कि हम राष्ट्रीय महासभा के होकर किस तरह रहें। हमें याद रखना चाहिए कि आज की राष्ट्रीय महासभा, हमारी कल की सरकार है। यदि हम आज की सरकार की ही बगल में चिपके रहेंगे तो कल की सरकार हमसे दूर, और हम उससे दूर, रहेंगे।

पाँचवीं कठिनाई है—एकता के मार्ग की उलझन—अभी दोनों जातियों के नेता इस सवाल को हल नहीं कर पाये हैं और इस बात में राष्ट्रीय नेताओं में और उनमें मतभेद है कि एकता का मार्ग प्रेम के दरवाज़े से होकर जाता है या भय की करारों से। दूसरे शब्दों में कहें तो मित्रता का मूल प्रेम है या भय—इसका तस्फ़िया अभी नहीं हो पाया है। प्रेम दो आदमियों को नजदीक लाता है या भय? कुटुम्ब और घर में प्रेम का तत्व चलता है या भय का? प्रेम भाइयों के दिलों को मिलाता है या भय? इस पर कोई कहेगा—हिन्दू-मुसलमान आज एक दूसरे को भाई नहीं समझते हैं। तो मैं पूछता हूँ, क्या दोनों जातियों के नेताओं की भी यही राय है? यदि हाँ, तो फिर उन्हें स्वराज्य और एकता का नाम मुँह से न निकालना चाहिए। और यदि यह मान भी लें तो मैं पूछता हूँ, यह शत्रुता आखिर चाहती क्या है? दो में से किसी एक को मिटा देना? यदि दोनों का समझौता, मित्रता या एकता ही

हमारी मौजूदा लड़ाइयों का अन्तिम परिणाम सोचा गया हो; तो फिर मैं पूछता हूँ कि वह परिणाम प्रेम के रास्ते ज्यादह जल्दी, ज्यादह अच्छा निकलेगा, या भय के रास्ते ? लड़ाई भी हम प्रेम से लड़ सकते हैं। प्रेम की लड़ाई दोनों का हित चाहती है, भय की लड़ाई एक का हित। हम एक ओर एकता चाहें, और दूसरीओर भय की लड़ाई के द्वारा एक का हित साधें, ये दोनों बातें एक साथ कैसे रह सकती हैं ?

यह सच है कि प्रेम से भय का रास्ता सरल मालूम होता है। प्रेम यों देखने में बहुत कीमत चाहता है, खरा सोना चाहता है, पर वास्तव में भय से वह बहुत कम साधन, कम झंझट, कम परेशानी और कम चिन्ता चाहता है। वह सिर्फ़ यही चाहता है कि मेरा भी उतना ही हित चाहो, जितना अपना चाहते हो। कौन कह सकता है कि प्रेम की यह माँग बेजा या ज्यादह है ? भय इसका जवाब देता है कि तुम मुझ से दब कर रहना चाहते हो तो तुम्हारी बात क़बूल करूँगा। यदि हिन्दू-मुसलमान यह चाहते हों कि हिन्दुस्तान में दो में से एक, दूसरे से दब कर रहे, डरता रहे तो मित्रता या एकता की आशा व्यर्थ है। यदि एकता और मित्रता वास्तव में हमारा लक्ष्य है तो भय का रास्ता हमारे लिए बंद है।

पर हम तो पहले ही भय के रास्ते चल पड़े हैं। 'भय बिनु प्रीति न होत' को अपना सिद्धान्त मानकर इन दिनों हिन्दू-मुस्लिम नेता चल रहे हैं। हो सकता है कि एक का भय आक्रामक और दूसरे का रक्षात्मक हो। पर हो रहे हैं दोनों भय के ही पथ के पथिक।

प्रेम का रास्ता देने, देते रहने और फिर भी न अघाने का रास्ता है। प्रेमी दे कर दूसरे के मन में स-व्याज लौटाने का कर्त्तव्य जाग्रत करता है। भय-दर्शक कुछ न देकर ले लेना चाहता है। हिन्दू-मुसलमान दोनों एक दूसरे से छीनना चाहते हैं; देकर ज्यादह लेने का रास्ता उन्हें पसंद नहीं। पर हम देख सकते हैं कि यही एक-मात्र रास्ता है। तो सवाल यह है कि भय का रास्ता छोड़ कर प्रेम के रास्ते कैसे आवें ? यदि दो में से एक भी दल के नेता इसके क़ायल हों तो भी यह संभव हो सकता है। ऐसा मालूम होता है कि भय के रास्ते से हम तभी हटेंगे, जब या तो उसके बुरे फलों से हमारी आत्मा में ग्लानि पैदा होगी या जब एक, दूसरे को भयभीत करने में कृतार्थ हो जायगा।

एकता के साधनों और कठिनाइयों पर अब तक जो विचार किया गया है तथा जितना अधिक विचार किया जाता है, उतना ही उसकी वर्तमान उलझनों को देखकर दिमाग़ चक्कर खाने लगता है और दिल कहने लगता है कि सब बातें परमात्मा पर छोड़कर प्रार्थना और आशा करते रहना तथा अपने से जो कुछ हो सके करते रहना ही अच्छा है।

---

७ स्वामीजी का खून और हमारा कर्त्तव्य

दिल का उफान—

यहाँ तक हमने देखा कि हिन्दू-मुस्लिम-प्रश्न क्या है, भारत को हिन्दू-मुस्लिम-एकता की कैसी आवश्यकता है, उसके लिए अब तक क्या क्या प्रयत्न हुए, वे कैसे सफल न हुए, दोनों में वैमनस्य क्यों है तथा एकता किस तरह हो सकती है और इसमें क्या कठिनाइयाँ हैं। पिछले सब प्रकरणों का निचोड़ यह है—

(१) भारतीय स्वराज्य के लिए हिन्दू-मुस्लिम-एकता अनिवार्य-शर्त है,

(२) एकता के दो रूप हैं, संस्कृति की एकता और राजनैतिक एकता—संस्कृति की एकता के लिए मुसलमानों की हिंसा-वृत्ति कम होना तथा हिन्दुओं की जड़ता का उन्मूलन होना आवश्यक है। राजनैतिक एकता के लिए छोटी जातियों की माँग बड़ी जातियाँ स्वीकार कर लें—यही अर्थात् प्रेम का एकमात्र राज-मार्ग है, और

(३) शुद्धि-तबलीग़ और संगठन-तनज़ीम के रूप में थोड़े संशोधन की आवश्यकता है।

इनमें से बहुतेरी बातें प्रायः सब हिन्दू-मुसल्मान-नेता, कार्य-कर्त्ता और शिक्षित लोग जानते हैं; फिर आज इन बातों को इतने

विस्तार से लिखने की जरूरत क्यों पड़ी? इसलिए कि—मैं हिन्दू-मुसलमान-विद्वेष और हिंसाकाण्ड को देश का महान् दुर्भाग्य और संकट समझता रहा हूँ तथा शुद्धि-संगठन और तबलीग़-तनज़ीम की वर्तमान गति-विधि पर भी मेरे कुछ आक्षेप हैं—पर इनमें पड़ने की योग्यता और शक्ति का अभाव अपने में पाकर, मैं इन बातों में कुछ समय से तटस्थ रहा हूँ। हाँ, इधर इधर मन में यह प्रेरणा जरूर होने लगी थी कि हिन्दू-संगठन को शुद्ध रूप देने और उसका सामाजिक उपयोग करके हिन्दू-समाज की सेवा, में अपनी शक्ति लगाऊँ—इतने ही में स्वामी श्रद्धानन्दजी के अमानुष ख़ून ने मेरे हृदय को कँपा दिया, जिससे मेरे दिल का यह उफान बरबस निकल पड़ा। जिस तरह वह ख़ून हुआ, वह तो हिन्दू-जाति, हिन्दू-संस्कृति और हिन्दू-धर्म की उच्चता, श्रेष्ठता, का मानों दुनिया में डंका पीट रहा है और मुसल्मानों की जंगली धर्म-मान्यता और पशुता की गवाही दे रहा है। ज्यों ज्यों तहक़ीक़ात में यह सूत्र मिलता जाता है कि इसके पीछे एक मुसल्मानों की साजिश है, त्यों त्यों हर हिन्दू-मुसलमान के मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि इस समय हमारा क्या कर्तव्य है। कुछ बिगड़े-दिल मुसल्मानों को छोड़कर इस ख़ून पर प्रायः सब लोगों और दलों को अफ़सोस हुआ है; लेकिन इसका असर जुदा जुदा दलों पर जुदा जुदा रूप में हुआ है। उन सबके कर्तव्य का हम यहाँ अलहदा अलहदा विचार करें। वे दल इतने हो सकते हैं—(१) हिन्दू-मुस्लिम-हलचलों में पड़े हुए हिन्दू-मुसलमान (२) राष्ट्रीय विचार के हिन्दू-मुसलमान (३) सरकार तथा (४) अन्य

हिन्दुस्तानी। इनमें सबसे पहले शुद्धि-संगठन में लगे हुए हिन्दुओं के कर्त्तव्य पर विचार करें।

हिन्दुओं का कर्त्तव्य—

उन्हें सबसे पहले यह सोचना चाहिए कि स्वामीजी महाराज का खून क्यों हुआ, किन कारणों ने यह परिस्थिति पैदा की फिर यह विचारें कि स्वामीजी महाराज का श्रेष्ठ स्मारक क्या हो, उनका अंगीकृत-कार्य क्या था और वह कैसे पूरा हो?

मेरी समझ में स्वामीजी महाराज के खून के योग्य परिस्थिति पैदा होने के दो कारण हैं—(१) दोनों तरफ़ के संवाददाताओं, अख़बारनवीसों, ग़ैरज़िम्मेवार कार्य-कर्ताओं की नीति-अनीति और हानि-लाभ की परवा किये बिना एक दूसरे के ख़िलाफ़ प्रचार करने की उत्तेजना और (२) मुसलमानों का यह जंगली या ग़लत ख़याल कि काफ़िर की जान मार देना अल्लाह की मेहर हासिल करना है और नेताओं के मार डालने से शुद्धि-संगठन बंद हो जायगा। मैं ऊपर कह चुका हूँ कि शुद्धि-संगठन कोई नीति-विरुद्ध काम नहीं है। यदि अधिकांश हिन्दू आज अपने लिए इसकी जरूरत समझते हैं, तो उन्हें ऐसा करने का बराबर हक़ है और दुनिया की कोई दुर्घटना उन्हें रोक नहीं सकती। पर हम नीति और धर्म की उच्चता का दावा करनेवाले हिन्दुओं का यह भारी कर्तव्य है कि हम जोश में, या उलझे हुए ख़यालात के कारण ऐसा काम न करें जो हमारे उच्च धर्म, संस्कृति और जाति के बड़प्पन को बट्टा लगाते हों। अपनी इसी अच्छाई और ऊँचाई के बल पर तो हम दुनिया को अपना बना लेने की, दुनिया

को अपनी ओर खींच लेने की आकांक्षा रखते हैं—इसी को खो देंगे तो दुनिया हमें क्यों पूछने लगेगी ? दुनिया हिन्दू-धर्म और हिन्दू-संस्कृति को हमारे धर्म-ग्रन्थों में या पिछले इतिहासों में देख कर हमारे साथ नहीं दौड़ी आवेगी, उसमें तो हमारी तरफ़ बहुत हुआ तो उसका ध्यान आकर्षित हो जायगा; पर आज वह हमारा आदर तभी करेगी, जब हम अपने धर्म और संस्कृति के सच्चे प्रतिनिधि होकर रहेंगे—हम उन तमाम नियमों को निबाहेंगे जो धर्म के और संस्कृति के उच्च नियम हैं ? अतएव हम हर हिन्दू ऐसा बनने का प्रयन्त करें कि जिसे देख कर हर आदमी यही कहे—यानी यह हिन्दू-धर्म, हिन्दू-संस्कृति का साक्षात् अवतार है। हम अपने इस चरित्र-बल पर ही संसार में अपने धर्म और संस्कृति को फैलाने की आशा कर सकते हैं। इसलिए ऐसा दावा करने, या उसके लिए प्रयत्न करने के पहले, अथवा साथ ही साथ, हम इस बात का भी पूरा उद्योग करें कि हम दुनिया की नज़र में ऊँचे रहें—हमारे हीन चरित्र को, हमारी गंदी बातों को, हमारी कु-करतूतों को देखकर दुनिया की दृष्टि हमारे धर्म और संस्कृति की ओर से फिर जायगी—जिस समाज में सत्य का गला घोंटा जा सकता हो; धन देकर जो चाहे कहलवा और लिखवा लिया जा सकता हो, जिसमें दुराचार फैला हुआ हो, दूसरों की बुराई ही देखी और फैलाई जा सकती हो—जोश के आगे विवेक और अक़ल की बात ठुकराई जा सकती हो, उसमें आकर सुख और शान्ति पाने की कौन उम्मीद करेगा ? मुस्लिम-संस्कृति को हम क्यों इतना कोसते हैं ? इसीलिए न कि

आज के कितने ही मुसल्मान गुण्डे से बन गये हैं। उन्हें देख कर किसी का आदर मुस्लिम-जाति की ओर बढ़ रहा है ? फिर वैसे ही गुण्डे बन कर हम क्या अपनी जाति और संस्कृति की सेवा करेंगे। हमारे व्याख्यानों और लेखों से नहीं, अपने सदाचार और सौजन्य से हम अपने प्रति औरों का आदर-भाव बढ़ा सकते हैं और उन्हें अपने दायरे में ला सकते हैं। धर्मान्तर या शुद्धि का यही सच्चा तरीक़ा है।

शान्ति के साथ विचार करने पर हमें मानना होगा कि स्वामी जी महाराज के खून हो सकने वाली परिस्थिति पैदा होने में हम हिन्दू भी कारणीभूत हैं। यदि मेरा यह ख़याल ठीक है, तो हमें अब आगे, उन बुराइयों से तो बाज आना चाहिए—पर अपना काम धड़ाके से जारी रखना चाहिए।

इस पर शायद कोई यह कहे कि हमें स्वामी जी महाराज के ख़ून पर दुःख ज़रा भी नहीं हुआ। हमें तो उनके बलिदान पर गर्व है। ऐसे ही बलिदानों से हिन्दू-धर्म और जाति का गौरव बढ़ता है और उसकी सेवा और वृद्धि होती है। हाँ, बिलकुल सही है—मैं भी उन आदमियों में हूँ, जो स्वामीजी के बलिदान में अपना गौरव मानते हैं और समझते हैं कि इससे हिन्दू-जाति और हिन्दू-धर्म का सिर संसार में ऊँचा हो गया है। पर इस बलिदान का महत्व और पवित्रता और बढ़ जाती, यदि हम हिन्दुओं का जरा भी हाथ, जान या अनजान में, इसकी परिस्थिति पैदा करने में न लगा होता। यदि इसके ज़िम्मेवार केवल मुसल्मान ही होते तो स्वामीजी का जीवन-कार्य उनके बलिदान

के साथ ही पूरा हो जाता—हमारे द्वारा पूरा होने के लिये बाक़ी न बच रहता। निस्संदेह स्वामीजी का बलिदान हिन्दुओं को और समस्त धर्म-प्राण लोगों को बलिदान की पवित्र प्रेरणा कर रहा है—अपने प्रतिपक्षी दल के एक व्यक्ति को रोग़शय्या पर पड़े हुए भी बुलाना, उसे पानी पिलवाना और उसकी गोलियों से शान्ति और वीरतापूर्वक मृत्यु की गोद में सो जाना, हिन्दू-धर्म और हिन्दू संस्कृति की उच्चता का झण्डा गगन में फहराना है। आइए, हम ऐसी ही महत्वाकांक्षा अपने जीवन में रक्खें कि हम भी पवित्र धर्म-मय-जीवन व्यतीत करते हुए, अपने समाज, देश और धर्म की अटल, अविराम सेवा करते हुए, इसी प्रकार वीर और धर्म-गति को प्राप्त हों। यही स्वामीजी महाराज के बलिदान के योग्य अपने को साबित करने का तरीक़ा है। यही उनके महान् सच्चे और अमर स्मारक की निर्दोष विधि है।

<u>संगठन जारी रहे—</u>

अब रहे स्वामीजी के अंगीकृत कार्य—शुद्धि और संगठन। मेरी राय में ये बराबर दूने वेग से जारी रहने चाहिये। सिर्फ़ इसी बात की ज्यादह चिन्ता और सावधानी रहनी चाहिये कि ग़ैर ज़िम्मेदार या जल्दबाज़ कार्यकर्त्ता उसके असली रूप को बिगाड़ें नहीं, उसकी शक्ति का दुरुपयोग न करें, उसकी आड़ में मुसल्मानों के प्रति विद्वेष, कटुता, अविश्वास न फैलावें। मुझे शुद्धि से भी ज्यादह जरूरी और महत्व का काम हिन्दू-संगठन मालूम होता है। शुद्धि पर यदि इतना ज़ोर न भी दिया जाय और सारी शक्ति संगठन में ही लगा दी जाय तो हर्ज नहीं। हमें संगठन में

इतनी बातों पर ख़ास तौर पर ध्यान देना चाहिये—(१) अछूतों, अनाथों और विधवाओं की आर्थिक कठिनाइयाँ, सामाजिक कष्ट दूर करना, जिससे वे विधर्मी बनने के लालचों में न आने पावें और (२) हिन्दू-धर्म के सिद्धान्तों और हिन्दू-संस्कृति की श्रेष्ठता, हिन्दू-जाति की महत्ता के ज्ञान का प्रचार उनमें अविरत रूप से किया जाय। हिन्दू-धर्म के मूल-भूत ग्रन्थों के सरल और सस्ते अनुवाद भिन्न-भिन्न भाषाओं में कराकर उनका प्रचार किया जाय। अशिक्षित लोगों में अच्छे, सुशील, पवित्र उपदेशकों द्वारा कथा-कीतन के रूप में धर्मोपदेश की व्यवस्था की जाय। या तो अपने धर्म के अज्ञान के कारण या धार्मिक लोभ, या सामाजिक सुविधा से आकर्षित होकर लोग प्रायः विधर्मी होते हैं। अतएव पूर्वोक्त उपायों द्वारा ख़ासी क़िलाबंदी कर देने से यह समस्या अच्छी तरह हल हो सकती है। और धर्म-भ्रष्ट हुए लोगों को वापस हिन्दू-समाज में आने का रास्ता तो अब खुल ही गया है, वह वैसा ही खुला रहना चाहिए। ऐसा करने से स्वामीजी महाराज जिस काम को अधूरा छोड़ गये, उसकी पूर्ति भलीभाँति हो सकेगी और इससे हिन्दू-मुस्लिम-एकता की राह के काँटे भी निकल जायँगे, जो कि स्वामीजी महाराज को भी इतनी प्रिय थी।

हिन्दुओ, सावधान !

एक अमंगल-ध्वनि मेरे कानों पर आई है, जिसका संकेत राष्ट्रीय महासभा के सभापति के पास भी गुमनाम पत्रों के रूप में पहुँचा है और जिसका ज़िक्र तक महात्माजी को महासभा में करना पड़ा है। कुछ बिगड़े-दिल हिन्दू-भाई यह सोचते हुए

दिखाई देते हैं कि स्वामीजी के ख़ून का जवाब मुसलमानों को क्यों न उन्हीं के तरीक़े से दिया जाय? मैं अपनी छोटी शक्ति के साथ उन हिन्दू-भाइयों को सावधान करना चाहता हूँ कि वे जोश में, ऐसा अविचार, ऐसा अनर्थ न करें। इस ख़ून के बदौलत आज *सारी दुनिया में जो हिन्दू-संस्कृति का यश फैल रहा है,* और साथ ही मुस्लिम-संस्कृति का हिंसक अंग, जो अपने पूरे भयंकर और घृणित रूप में बीसवीं सदी की दुनिया के सामने आया है, उसको जल्दी में अपने दिल का उबाल निकालने के लिए, अपने रंज और ग़म को बुझाने के लिए, पोंछ न डालो! अपनी चोट पर इतना सस्ता मरहम न लगाओ—यह ज़हरीला है। इससे तुम्हारी चोट थोड़ी देर के लिए ठंढी होती हुई भले ही दिखाई दे, आगे चलकर वह घाव को सड़ा देगा और सारे समाज को परेशान कर देगा। इससे लोकमत हिन्दुओं की ओर से हट कर, मुसलमानों की ओर हो जायगा और तुम्हारा पक्ष कमज़ोर हो जायगा। स्वामीजी के खून की ज्यादह क़ीमत तुम्हें देनी होगी। तुम्हें अपना जीवन स्वामीजी की वीरता, निर्भयता, पुरुषार्थ, लगन, सत्य-प्रेम का अनुकरण करने में तथा अछूतों को उठाने, अबलाओं को जगाने, अनाथों को भाई बनाने में लगाना होगा। किसी मुसलमान का खून करके तुम स्वामीजी के पास जाओगे तो वे तुम्हें वहाँ से बैरंग वापस कर देंगे; अपनी ज़िंदगी उनके अंगीकृत-कार्यों में लगाकर उनके सामने पहुँचोगे तो वे पीठ ठोंककर शाबाशी देंगे और प्रेम से अपनी गोद में बैठावेंगे।

मैं एक बात उन जोशीले भाइयों से भी कहना चाहता हूँ—

जो हिन्दू-धर्म को विश्व-धर्म बनाने के लिए लालायित हैं, वे अगर नाम के लिए लड़ते रहेंगे तो अपने धर्म को जाति के क़ैद-ख़ाने में क़ैद कर देंगे। अगर सिद्धान्त और भाव के प्रचार में जुटे रहेंगे तो संसार आदर-पूर्वक उनको शिरोधार्य करेगा।

मुसल्मानों का फ़र्ज़—

मुसल्मानों को, इस मौक़े पर, उनके फ़र्ज़ बताने का मुझे उतना हक़ हासिल नहीं। मैंने यह किताब एक हिन्दू की हैसियत से, ख़ास कर अपने हिन्दू भाइयों के लिए लिखी है। गो मैंने इसमें कितनी ही जगह एक हिन्दुस्तानी की हैसियत से भी कुछ लिखा है, ताहम मुसल्मान भाइयों से ज्यादह कहने की हिम्मत नहीं होती; क्योंकि उन्होंने अभी ऐसी बातें सुनने के लिए अपने कान बंद कर रक्खे हैं। जिस दिन वे किसी हिन्दू का ऐसा दावा मान लेंगे, उस दिन उनकी ख़िदमत में भी दस्तबस्ता अर्ज़ किया जायगा। उनके लिए तो यहाँ मैं सिर्फ़ इतना ही कह सकता हूँ कि अगर मैं मुसल्मान होता तो इस मौक़े पर क्या करना अपना फ़र्ज़ समझता। मेरे दिल को अब्दुल रशीद की इस हरकत से उससे ज्यादह चोट पहुँचती, जितनी आज हिन्दू की हैसियत से स्वामीजी के ख़ून पर पहुँच रही है। मैं अब्दुल रशीद को इस्लाम का पाप समझता और मानता कि ख़ुदा ने मुस्लिम-संस्कृति को धोने के ख़याल को मुसल्मानों के दिल में जमाने के लिए इसे दुनिया में भेजा है। मैं उसे एक भारी काफ़िर से ज्यादह इस्लाम का दुश्मन समझता; क्योंकि काफ़िर तो काफ़िर रह कर सिर्फ़ अपना नुक़सान करता है, इस्लाम का नहीं। अब्दुल रशीद ने तो न

सिर्फ़ अपना नुक़सान ही किया, बल्कि इस्लाम को दुनिया की नज़र में और गिरा दिया। उसको 'ग़ाज़ी' का खिताब देने वालों को मैं काफ़िर से ज्यादह बुरा समझता और अगर अब्दुल रशीद किसी साज़िश का हथियार बना हो, तो मैं इस अफ़सोसनाक़ वाक़ए को हज़रत महम्मद साहब के फ़ैज़ोअसर (पुण्य-प्रताप) के इम्तहान का मौक़ा समझता। मैं स्वामी श्रद्धानंदजी की एक यादगार बनवाने में अपनी ताक़त लगाता और वह होती—'इस्लाम-रिफ़ार्म-अंजुमन'—की शकल में, जिसका काम होता बीसवीं सदी के इल्म और जानकारियों की रोशनी में इस्लाम का रिफ़ार्म करना। मैं गंदे और भद्दे तरीक़ों से तबलीग़ करने का तरीक़ा बंद कर दाता और हिन्दुओं से अपने को हर तरह ऊंचा उठाकर इस्लाम की बढ़ती करने की कोशिश करता। मुसलमानों की जहालत, जनून और लठबाज़ी को इस्लाम की ताक़त नहीं, कमजोरी समझता और हिन्दुओं की हलीमी (नम्रता) और बरदाश्त को उनकी ताक़त। ग़र्ज़ कि मैं इस मौक़े पर हर तरह से इस्लाम का सिर दुनिया में ऊँचा उठाने के लिए छटपटाता। इससे ज्यादह मैं मुसल्मान भाइयों से क्या अर्ज़ कर सकता हूँ। मुझे तो इतना ज़रूर दिखाई देता है कि अगर इस्लाम में जल्द ही कोई अच्छा रिफ़ार्मर न पैदा हुआ तो इस्लाम की ताक़त दुनिया में दिन-दिन कम पड़ती जायगी। इस्लाम की बुनियाद अब्दुल रशीद ने ढीली कर दी है, अब जल्द ही हज़रत मुहम्मद साहब के तशरीफ़ लाने की ज़रूरत है। एक साधारण मनुष्य की हैसियत से कभी-कभी मेरा जी चाहता है कि अब्दुल रशीद का शुक्रिया अदा

करूँ, मगर एक तो हिन्दू-धर्म मुझे इसके लिए मना करता है, क्योंकि वह नहीं चाहता कि प्रतिपक्षी का पतन हो, और दूसरे अपने को इस्लाम का भी खैरख्वाह मानता हूँ। इसलिए उसका शुक्रियाअदा कर के इस्लाम में और अब्दुल रशीद बढ़ाना मुनासिब नहीं समझता।

सरकार का कर्त्तव्य—

सरकार न हमारे वश की है, न उसका कर्त्तव्य हमारे वश का है। वह राष्ट्रीय होती तो ज्यादह कहने की जरूरत ही न पेश आती। अपने कर्त्तव्य से ज्यादह ख़याल उसे अपने स्वार्थ का है। बड़ा नाम, बड़े दावे तथा खुद स्वार्थ उसे कभी कभी इन झगड़ों में, और खास कर ऐसी वारदात में दिलचस्पी लेने पर मजबूर करता है। क्या यह ताज्जुब और शर्म की बात नहीं है कि एक सरकार के होते हुए, दो जातियाँ बरसों इतनी लड़ती रहें, एक जाति के नेता के खून होने तक की नौबत पहुँच जाय और वह हालत को सुधारने में बिल्कुल कामयाब न हो सके? जब कि ऐसी दुर्घटनाओं और लड़ाई झगड़ों में उसका प्रत्यक्ष लाभ है, उसकी हस्ती इसी पर खड़ी है, तब उसके कर्त्तव्य का विचार करना ही वृथा है—हमें तो यह विचार करना उचित है कि वह कैसे सुधारी जाय, अपनी बनाई जाय और इसके लिए हमारा क्या कर्त्तव्य है?

राष्ट्रीय विचार वालों का कर्त्तव्य—

वे दोनों जातियों की उत्तेजना, कटुता, भय, अविश्वास और सन्देह को कम करने में पहले से भी अधिक अपनी शक्ति लगावें-

ऐसे कामों की आयोजाना करें जिससे दोनों जाति के लोग एक दूसरे के संपर्क में आवें—नज़दीक़ आवें, इसका सब से अच्छा उपाय है—महात्माजी का चरखा और खादी। इसके पैग़ाम को लेकर कार्यकर्त्ता हिन्दू-मुसल्मान दोनों के घरों और दिलों तक पहुँच सकता है और एकता, प्रेम, विश्वास तथा निभयता का सन्देश उन्हें सुना सकता है। शुद्धि-सङ्गठन और तबलीग़-तनज़ीम वाले वे भाई भी, जो अपनी २ जातियों का भला तो चाहते हैं, पर साथ ही एकता और स्वराज्य के भी प्रेमी हैं, इसमें राष्ट्रीय विचार वालों का हाथ बटावें और इस तरह दोनों अपने एक लक्ष्य तक पहुँचें।

अन्य हिन्दुस्तानियों का कर्तव्य—

पारसी, ईसाई. सिक्ख (यदि वे अपने को हिन्दू से पृथक् मानते हों) का कर्त्तव्य है कि वे इन हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों से यह नसीहत लें कि (१) जातियों का आपस में लड़ना राष्ट्र को हानि है (२) जातिगत स्वार्थों को राष्ट्रीय स्वार्थों से तरजीह देना बुरा है (३) सरकार के बजाय राष्ट्रीय महासभा देश की और देश की छोटी-बड़ी जातियों की सच्ची हितचिन्तक है और (४) हिन्दु-मुसल्मानों के उत्पातों से अकेले उन्हीं को नहीं, बल्कि दूसरी जातियों की भी हानियाँ हैं; इसलिए उनको मिटाने में वे तटस्थ न रहें, बल्कि जहाँ तक हो सके प्रेम, सद्भाव, मित्रता का वायुमण्डल तैयार करने में अपनी तरफ़ से भी भरसक कोशिश करें।

उपसंहार—

यहाँ यह निबंध और मेरा कर्त्तव्य समाप्त होता है। मैं नहीं कह सकता कि यह चीज़ जैसी चाहिए, वैसी बनी या नहीं। पर मैं इतना ज़रूर कह सकता हूँ कि इसे जो ध्यान-पूर्वक पढ़ेगा, उसकी बहुत सी गुत्थियाँ सुलझ जायँगी और उसे अपने लक्ष्य, मार्ग और कर्त्तव्य का स्पष्ट ज्ञान हो जायगा। यदि इतना भी हुआ तो मैं अपने को कृतार्थ समझूँगा।

हिन्दू भाई मुझे माफ़ करें, अगर इसकी कोई बात, इस समय उन्हें खटके। अपनी त्रुटियों, भूलों और दोषों को इसमें कहीं २ देख कर वे चिढ़ें और बिगड़ें नहीं। दोष दबाकर रखने से बढ़ता है, उसे तो साफ़ ही कर डालना चाहिए। बदबू फैलने के डर से हम कहाँ तक उस बदबू को छिपा रक्खेंगे और अपनी हानि करते रहेंगे। अपने दोष प्रकट करना अच्छी बात है, दूसरे के दोष खोजना बुरा है। मुसल्मान अगर हमारी बदबू पर खुश हों, तो होते रहें। उलटा मुझे तो इस बात का अफ़सोस है कि उनके घर में इससे कम बदबू नहीं है। मगर उनसे कुछ कहने का मुझे कोई हक़ नहीं। हिन्दुओं के लिये इस कारण लिखा कि मैं 'उनका हूँ'—उनके दुःख से दुःखित होकर ये पंक्तियाँ उन्हीं के लिये लिखी गई हैं—ये दुखी दिल के उद्गार हैं—ज़्यादह क्या कहूँ—